

मार्च 2014 मूल्य : 20 रुपए

साभयिक वाता



गुजरात का सच

वामपंथ की बुनियादी भूल
हिमालयी भूलें
वेतन आयोग और किसान
स्त्री संघर्ष की पहली नेता

भ्रष्टाचार विरोध का अर्थशास्त्र
बराबरी का सपना
लिखित शब्द की लुगदी
नस्लवाद की दस्तक

सुनना

सिर्फ स्वयं बोलते जाने की
आत्म-केन्द्रित सनक से बचना है

उत्सुक जोड़ी-भर कान
दुनिया-भर की अच्छी-बुरी कहानियों का प्रवेश-द्वार हैं
अपनी-अपनी हेकड़ी में जीते और
अनथक रूप से अपना महिमामंडन करते लोगों के
आत्म-गर्व में तनी-दबी गर्दनों के बीच
किसी का अधनत गर्दन लिए,
विनीत भाव से कुछ सुनना
उसकी कोई कमजोरी नहीं है;
यह भी नहीं कि उसके पास कुछ कहने को नहीं है;
कहना जरूरी हो तो कहा जा सकता है कि
वह अनजाने ही
इस वाचाल समय का एक विनयशील विकल्प है
उसका मूक प्रतिरोध भी
उसे एक ऐसा श्रोता भी कहा जा सकता है कि
जिसके लिए किसी दूसरे को सुनना
अपना सुनाने से कम महत्वपूर्ण नहीं है

उसे अपनी बारी का इंतजार करना आता है
अपने अंदर का सब कुछ एकबारगी उगल देने की
उसकी कोई विकलता या कहे विवशता नहीं है
यह भी कि उसकी शांत-बंद पड़ी तिजोरी में जमा
किसी का विश्वास, रहस्य, प्रसंग
एक-दूसरे के ऊपर तह-दर-तह कुछ यूँ पड़ा है कि
वह स्वयं भी उस रहस्यलोक की
यात्रा नहीं करना चाहता
वह विश्वास करता है सुनने में
और लोग विश्वास करते हैं उसे सुनाने में

उसने बड़ी आत्मीयता से
अपने धैर्य की आंच में गढ़ा है
अपने कानों का यह गहना
जहां सुनना और उसे पचाना
अब उसकी गरिमा और साधना का

अंग बनकर अपृथक रूप से जुड़ गया है उससे
उसे विश्वास है अपनी मौनधर्मिता पर
और इस पर भी कि भविष्य में उसके मौन को
किसी अराजक या कहे भ्रष्ट गोपनता का
संरक्षक नहीं माना जाएगा

कहा जा सकता है कि
सुनना भी एक ऐसी ही अनोखी और संयत क्रिया है
जिसमें श्रोता अपने सम्मुख खड़े या
कहीं दूर बैठे वक्ता से कुछ यूँ
एकीकृत हो जाता है कि
वक्ता की बातें क्या उसका स्वगत-कथन और मौन भी
उसके कानों को भली-भांति ग्राह्य होता है
वक्ता और श्रोता के बीच वायुमंडल होता है
या कहे दोनों एक ही वायुमंडल में रहते हैं
हवा पर तैरकर आतीं
तो कभी दूरभाष के तारों से चलकर आतीं ध्वनि लहरियां
कानों तक शब्दाकार आती हैं
वक्ता और श्रोता दो बिंदुओं पर खड़े होते हैं
मगर संवाद के दौरान दोनों के हृदय की धड़कनें
किसी एक बिंदु और किसी एक नाद पर
एक जैसी धड़कती हैं

सुनना एक योग है जिसमें उच्चरित शब्दों को
उसके पीछे की पूरी शब्द शक्ति और
वक्ता की समस्त व्यंजना के साथ मिलाकर
सुना-समझा जाता है

इसको उसको गौर से सुनिए
अकेले सुनने पर
बहुत-कुछ कहा-सुना जा सकता है।

अर्पण कुमार

सामयिक वार्ता

मार्च 2014, वर्ष 37, अंक 7-8

संस्थापक संपादक: किशन पटनायक

संपादक: सुनील

उपसंपादक: बाबा मायाराम

संपादन सहयोग:

सत्येन्द्र रंजन, अरविंद मोहन, हरिमोहन, राजेन्द्र राजन, प्रियदर्शन, अरुणकुमार त्रिपाठी, मेधा, चंदन श्रीवास्तव

परामर्श मंडल:

सच्चिदानंद सिन्हा, अशोक सेकसरिया, योगेन्द्र यादव, कश्मीर उप्पल

प्रबंधक: चंद्रशेखर मिश्रा

पृष्ठ-सज्जा: तरुण पटैल, संजीव यादव

कार्यालय: सामयिक वार्ता, द्वारा चंद्रशेखर मिश्रा, दूसरी लाइन, इटारसी, जिला होशंगाबाद, म.प्र. पिन 461111

फोन: 09425040452, 9424437330

(संपादन) 09993737039 (प्रबंध)

ई-मेल: varta3@gmail.com

आवरण चित्र: सुरेंद्र

सदस्यता शुल्क:

वार्षिक शुल्क: 150 रुपए

संस्थागत वार्षिक शुल्क: 200 रुपए

पांच वर्षीय शुल्क: 600 रुपए

आजीवन शुल्क: 2000 रुपए

सदस्यता शुल्क चेक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर द्वारा 'सामयिक वार्ता ट्रस्ट' के नाम से दफ्तर के पते पर भेजें।

सदस्यता/सहायता/एजेसी की राशि कोर बैंकिंग के जरिए पंजाब नेशनल बैंक में कहीं भी उपरोक्त नाम से खाता क्रमांक 3979000100117987 (ifsc code punbo397900) में जमा कर सकते हैं। जमा करने की सूचना और अपना पता हमें पत्र से अवश्य भेजें। आप पहले से वार्ता के ग्राहक हैं लेकिन वार्ता आप तक नहीं पहुंची हो तो एक पोस्टकार्ड डालकर हमें भूल-सुधार का मौका दें।

इस अंक में

12

गुजरात का सच
कश्मीर उप्पल

19

भविष्य में छलांग
राजकिशोर

24

वामपंथ की बुनियादी भूल
सच्चिदानंद सिन्हा

30

भ्रष्टाचार विरोध का अर्थशास्त्र
अरुण कुमार

33

हिमालयी भूलें और पारंपरिक प्रबंध
विजय जड़धारी

42

बराबरी का सपना
देवानूर महादेव

45

लिरिवत शब्द की लुगदी
अलका सरावगी

47

वेतन आयोग और किसान
विजय जावंधिया

49

तमिल समस्या के पीछे क्या है
मेधा पाटकर

51

नस्लवाद की दस्तक
शिउली वनजा

53

अफसरशाही, अपवाद और सीमाएं
सुनील

58

स्त्री संघर्ष की पहली नेता
अनिता भारती

61

बिहार में शिक्षा की दुर्दशा
रेणु झा

स्वच्छ व मानवीय पूंजीवाद संभव नहीं

अर्थशास्त्रियों की बहसों की गूँज आम तौर पर अर्थशास्त्र की दुनिया के बाहर नहीं सुनाई देती। इसमें दोष अर्थशास्त्रियों का ही होता है जिन्होंने अपने विमर्श को बहुत तकनीकी और जटिल शब्दावलियों से भरपूर बना लिया है। लेकिन पिछले साल एक बहस की चर्चा भारत के अंगरेजी पढ़े-लिखे लोगों की दुनिया में काफी रही। इस बहस में दोनों ओर विदेशों में बसे भारतीय मूल के दो विश्वस्तरीय अर्थशास्त्री थे—जगदीश भगवती और अमर्त्य सेन। इनमें एक को नोबल पुरस्कार मिल चुका है और दूसरे को भी प्रतीक्षा सूची में माना जा सकता है।

भगवती और सेन की इस बहस को वृद्धि बनाम वितरण, वृद्धि बनाम विकास, आर्थिक विकास बनाम मानव विकास या गुजरात बनाम केरल की बहस के रूप में भी देखा गया। संयोग से दोनों की किताबें भी एक के बाद एक प्रकाशित हुईं और चर्चित रहीं। पहले 2012 में जगदीश भगवती व अरविंद पनगढ़िया की किताब 'इंडियाज ट्रीस्ट विद डेस्टिनी' (नियति के साथ भारत की मुठभेड़) आई और 2013 में ज्यां द्रेज व अमर्त्य सेन की किताब 'एन अनसरटैन ग्लोरी: इंडिया एंड इट्स कांटाडिक्शन्स' (एक अनिश्चित यश: भारत और इसके अंतर्विरोध) छप कर आई।

भगवती बनाम सेन

जहां जगदीश भगवती ने गुजरात को विकास का मॉडल बताया, वहीं अमर्त्य सेन ने केरल के मॉडल को अनुकरणीय बताया। भगवती-पनगढ़िया का कहना था कि गरीबी और अभावों को दूर करने के लिए सबसे पहले आर्थिक वृद्धि जरूरी है। यदि हमारा भंडार ही छोटा है, तो हम उसे क्या बाँटेंगे? सेन-द्रेज का कहना है कि वृद्धि तो जरूरी है, लेकिन उसके साथ शिक्षा, सेहत और पोषण पर पर्याप्त खर्च नहीं किया गया तो श्रम की उत्पादकता व कार्यकुशलता कम होगी और वृद्धि भी नहीं हो पाएगी। दोनों

में मतभेद और भी हैं। दोनों वैश्वीकरण और उससे प्रेरित भारत के आर्थिक सुधारों के पक्ष में हैं। लेकिन भगवती पूरी तरह मुक्त बाजार के पक्ष में हैं और उसमें किसी तरह के हस्तक्षेप, नियंत्रण या रोकटोक के खिलाफ हैं। वे यह भी कहते हैं कि इन सुधारों को आगे बढ़ाना चाहिए और अब दूसरी पीढ़ी के सुधारों (श्रम, खुदरा व्यापार, बैंकिंग आदि में) को लागू करना चाहिए। सेन-द्रेज सिद्धांत के तौर पर मुक्त व्यापार और निजीकरण के खिलाफ नहीं है, लेकिन वे इन के दुष्प्रभावों को दूर करने के लिए सरकार द्वारा कल्याणकारी कार्यक्रम चलाने के पक्ष में हैं। वे मनरेगा और खाद्य सुरक्षा कानून की तारीफ करते हैं। भगवती इनके खिलाफ हैं और चाहते हैं कि गरीबों को कोई अनुदान देना है तो उसे नकदी रूप में देना चाहिए ताकि बाजार में कोई विकृति नहीं आए।

यह कहा जा सकता है कि जगदीश भगवती मुक्त बाजारवादी हैं और अमर्त्य सेन कल्याणकारी राज्य की वकालत कर रहे हैं। यह भी कहा जा सकता है कि अमर्त्य सेन वैश्वीकरण को मानवीय चेहरा प्रदान करना चाहते हैं। एक और नोबल अर्थशास्त्री जोसेफ स्टिगलिट्ज मौजूदा अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के आलोचक हैं, लेकिन वे भी वैश्वीकरण को मानवीय स्वरूप प्रदान करना चाहते हैं।

भगवती-सेन बहस का राजनीति में प्रतिबिंब दिखते देर नहीं लगी और कईयों ने इसे मोदी बनाम राहुल की बहस के रूप में देखा। भगवती ने नरेंद्र मोदी का खुलकर समर्थन किया। अमर्त्य सेन ने कहा कि वे मोदी के पक्ष में नहीं हैं, लेकिन वे भारत के मौजूदा प्रदर्शन के भी आलोचक बने रहे।

आप किधर

उस वक्त तक भारत के राजनैतिक क्षितिज पर आम आदमी पार्टी का वैसा अवतरण नहीं हुआ था, जो दिल्ली चुनाव में सफलता के बाद हुआ। इसने अभी तक अपनी

आर्थिक नीतियां साफ नहीं की है। इसका प्रमुख मुद्दा भ्रष्टाचार और स्वच्छ राजनीति ही बना हुआ है। पहले उम्मीद थी कि जब यह पार्टी दिल्ली चुनाव के बाद लोकसभा चुनाव की ओर बढ़ेगी, तो अपनी नीतियों की स्पष्ट घोषणा करेगी। लेकिन उसमें देरी से प्रतीत होता है कि शायद आर्थिक नीतियों पर इसके अंदर काफी मदभेद हैं, जिन्हें वह सुलझा नहीं पा रही है। लेकिन जब भी इसका घोषणापत्र सामने आएगा, यह किसे चुनेगी-भगवती को या अमर्त्य सेन को? अभी तक की इसकी घोषणाओं और बिजली-पानी को लेकर इसकी कारवाइयों से लगता है कि यह सेन के ज्यादा नजदीक होगी। यानी यह पूंजीवाद और वैश्वीकरण के खिलाफ नहीं होगी, लेकिन उससे भ्रष्टाचार को निकालकर उसे जनहितैषी बनाने की कोशिश करेगी।

हाल ही में भारतीय उद्योगपतियों की एक सभा में केजरीवाल ने कहा कि वे पूंजीवाद के खिलाफ नहीं हैं, पूंजीपतियों से गलत सांठ-गांठ के विरोध में हैं। उन्होंने कहा कि व्यापार करना सरकार का काम नहीं है, सरकार का काम अच्छा शासन देना है। लेकिन सरकार को निगरानी जरूर

रखना चाहिए। प्रशांत भूषण के कंपनी विरोधी रवैये के बारे में केजरीवाल ने कहा कि वह उनकी व्यक्तिगत राय है, पार्टी की नहीं। दूसरे शब्दों में, आम आदमी पार्टी संभवतः भारत में एक 'स्वच्छ और मानवीय पूंजीवाद' की स्थापना करना चाहती है। यदि ऐसा होता है तो भगवती के नायक नरेंद्र मोदी के मुकाबले अमर्त्य सेन को भी अरविंद केजरीवाल के रूप में एक प्रतीक नेता मिल सकता है।

पूंजीवाद के दृष्ट

कई कारणों से और अभी तक के अनुभवों को देखते हुए 'स्वच्छ पूंजीवाद' और 'मानवीय वैश्वीकरण' की बात विरोधाभासों से भरपूर है और संभव नहीं है। कल्याणकारी राज्य को हम 1991 के पहले आजमा चुके हैं पिछले एक दशक में सोनिया गांधी की राष्ट्रीय सलाहकार

परिषद के माध्यम से, एक के बाद एक, कई अधिकारों के कानून (मनरेगा, वनअधिकार कानून, शिक्षाअधिकार कानून, खाद्य सुरक्षा कानून आदि) बनाकर, वैश्वीकरण को मानवीय चेहरा प्रदान करने की कोशिश भी की जा चुकी है। जाहिर है कि दोनों कोशिशें असफल हुईं। भारत राष्ट्र तथा भारतीय अवाम की जिंदगियों में बढ़ते संकटों को रोकने या हल करने में वे असफल रहीं। यदि इतिहास के इन अनुभवों से कोई सबक नहीं लिया जाता, तो हम सही रास्ता खोजने में सफल नहीं होंगे।

वैश्वीकृत पूंजीवाद या पूंजीवादी वैश्वीकरण का जो दौर भारत सहित दुनिया में पिछले दो-ढाई दशकों से आया है, उसमें कई गहरे अंतर्द्वंद्व, टकराव, मजबूरियां और परस्पर निर्भर प्रक्रियाएं छिपी हैं जो नए-नए संकट पैदा करते रहते हैं और जिनका टुकड़ों में या आंशिक समाधान संभव नहीं है। कुछ उदाहरणों से बात साफ होगी।

निर्यातोन्मुखी विकास की रणनीति में मजदूरों का शोषण, रोजगार में कमी, कृषि उपज को सस्ता रखना, खनिजों को औने-पौने दामों पर उपलब्ध कराना और पर्यावरण के विनाश की छूट देना निहित है।

1994 के अंत में विश्व व्यापार संगठन की स्थापना के साथ ही दुनिया मुक्त व्यापार के दौर में प्रवेश कर चुकी है। भारत जैसे तमाम गरीब देशों को बताया गया है कि आयातों

को खुला कर के वे निर्यात बढ़ाने पर जोर दें। निर्यात बढ़ाने के लिए अंतरराष्ट्रीय बाजार में भारत की कंपनियों को प्रतिस्पर्धी होना पड़ेगा। इसका मतलब है कि देश के अंदर उत्पादन लागतें कम हों। यानी मजदूरी कम हो, कच्चा माल सस्ता हो और कारखानों से प्रदूषण को रोकने पर बहुत सख्ती न की जाए। इसका यह भी मतलब है कि कंपनियों को मजदूरों की छंटनी करते हुए मशीनीकरण और स्वचालन की छूट व उसमें मदद दी जाए। दूसरे शब्दों में, निर्यातोन्मुखी विकास की रणनीति में मजदूरों का शोषण, रोजगार में कमी, कृषि उपज को सस्ता रखना, खनिजों को औने-पौने दामों पर उपलब्ध कराना और पर्यावरण के विनाश की छूट देना निहित है। या तो हम मुक्त व्यापार की शोषणकारी व्यवस्था से बाहर आएँ और घरेलू उत्पादकों को संरक्षण देते हुए हुए भीतरदेखू विकास नीति अपनाएँ या फिर इन सब जनविरोधी,

पर्यावरण-विरोधी प्रवृत्तियों को नजरअंदाज करते रहें। बीच का कोई रास्ता नहीं है।

कंपनियों की बंधक सरकारें

इसी से जुड़ा पहलू पूंजी निवेश को लेकर है। हमारा विकास देशी-विदेशी कंपनियों को आकर्षित करके ही हो सकता है, यह हर पार्टी की सरकार मानती है और कई तरह के प्रोत्साहन, कर-रियायतें, व अनुदान देती है। लेकिन इस देशी-विदेशी पूंजी के बहुत नखरे हैं। वह न केवल कानूनी और गैरकानूनी (भ्रष्टाचार की) छूटें चाहती हैं, बल्कि सरकार की समग्र आर्थिक नीतियां और अर्थव्यवस्था का ढांचा भी उसके मुनाफों के अनुकूल हो, यह चाहती है। जब अमर्त्य सेन और ज्यां ट्रेज शिक्षा-सेहत-पोषण-रोजगार सुरक्षा आदि पर भारी खर्च की वकालत करते हैं, तो वे भूल जाते हैं कि कंपनियों को रियायतें व जन हित में खर्च में वृद्धि दोनो एक साथ नहीं हो सकते। और यह भी कि जनता को भारी अनुदान और ज्यादा बजट घाटा होने पर अंतरराष्ट्रीय रेटिंग एजेंसियां भारत की रेटिंग कम कर देगी और चंचल अंतरराष्ट्रीय पूंजी

दूसरे देशों में जाने लगेगी। कुछ सालों से तो यह हालत बन गई है कि बजट में या अन्यथा इस पूंजी के हितों के प्रतिकूल जरा भी संकेत होने पर शेयर बाजार गिरने लगता है और भारत सरकार घबराकर फैसले बदल देती है। एक तरह से वह इन कंपनियों की बंधक बन गई है। देश में एक कंपनी राज कायम होता जा रहा है। अब पूंजीवाद ऐसी अवस्था में पहुंचता जा रहा है कि दोनों को (कंपनी हित व जनहित को) एक साथ नहीं साधा जा सकता। कल्याणकारी राज्य वैश्विक पूंजी को बरदाश्त नहीं है, क्योंकि इससे उसका धंधा और मुनाफा कम होता है। अंधाधुंध निजीकरण में उसके हित छिपे हैं। भारी भ्रष्टाचार, घोटाले और लूट वाला 'याराना पूंजीवाद' भी इन कंपनियों को आकर्षित करने के चक्कर में ही कायम हो रहा है।

एक उदाहरण लें। दिल्ली में आम आदमी पार्टी ने बिजली और गैस के मामले में निजी कंपनियों के गैरवाजिब मार्जिन का सवाल उठाया है और सही उठाया है। लेकिन ऐसा नहीं है कि अंबानी बदमाश है और टाटा अच्छा है। निजी कंपनियां इन तमाम क्षेत्रों में आती ही हैं इस शर्त के साथ और इस उम्मीद में कि उन्हें मनमाने मुनाफे कमाने के मौके मिलेंगे। यदि ये मौके नहीं मिलेंगे तो वे मुनाफों के मुक्त चरागाहों वाले दूसरे देशों की ओर रुख भी कर सकती हैं। इसलिए भ्रष्टाचार से मुक्ति और जनहित चाहिए तो निजीकरण की मौजूदा प्रक्रिया के विकल्प को खोजना ही होगा।

यह भी समझना जरूरी है कि वैश्वीकरण के इस दौर में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाएं बहुत बुरी तरह वैश्विक वित्तीय पूंजीवाद में गुंथ गई हैं। जैसे विदेशी विनिमय के उदारीकरण

के बाद अब राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर बढ़ाने के लिए ही नहीं, विदेशी मुद्रा भंडार बनाए रखने के लिए और भुगतान संतुलन के संकट से बचने के लिए भी भारत सरकार को लगातार विदेशी कंपनियों की मिजाजपुरसी करना पड़ता है। इसके

कुछ सालों से तो यह हालत बन गई है कि बजट में या अन्यथा इस पूंजी के हितों के प्रतिकूल जरा भी संकेत होने पर शेयर बाजार गिरने लगता है और भारत सरकार घबराकर फैसले बदल देती है। एक तरह से वह इन कंपनियों की बंधक बन गई है।

लिए उनके द्वारा कर चोरी और भ्रष्टाचार को भी नजरअंदाज करना पड़ता है जैसा कि 'मारीशस मार्ग' के मामले में हो रहा है। इसलिए इस पूरे जाल से बाहर आना ही पड़ेगा।

दो नंबरी (काले) धन की तेजी से बढ़ती समांतर अर्थव्यवस्था का भी गहरा रिश्ता वैश्वीकरण की नई व्यवस्था से है। वायदा बाजार, शेयर बाजार, हवाला, जमीन-जायदाद का तेजी से बढ़ता कारोबार, सोने की बढ़ती खपत व कीमतें, शिक्षा-स्वास्थ्य का निजीकरण- ये सब ऐसे दायरे हैं, जहां काले-सफेद, कानूनी-गैरकानूनी या नैतिक-अनैतिक के बीच की विभाजन रेखा बहुत पतली और अस्पष्ट है। राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर को ऊपर ले जाने और गुब्बारे को फुलाने में इनका बड़ा हाथ है। यह समृद्धि देश के वास्तविक उत्पादन क्षेत्र में मेहनत करने वाले आम आदमी को दरकिनार करके

ही बनती है। ऐसी नकली समृद्धि का मोह छोड़ने के लिए तैयार होने पर ही भ्रष्टाचार व घोटालों पर अंकुश लग सकेगा तथा आम आदमी का हित सध सकेगा।

लुटेरा पूंजीवाद

भारत में फैली व्यापक गरीबी, गैरबराबरी, महंगाई और बेरोजगारी भी पूंजीवाद और आधुनिक औद्योगीकरण की उपज है। जिसे पूंजी संचय कहा जाता है, वह अनिवार्य रूप से मजदूरों के श्रम के शोषण के साथ-साथ प्राकृतिक संसाधनों की लूट, प्रकृति से जुड़े उत्पादकों के शोषण और पारंपरिक धंधों के विनाश की एक प्रक्रिया है जो स्थानीय, राष्ट्रीय और वैश्विक स्तर पर चलती है। यह पूंजीवाद के विकास की शुरूआत से चली आई एक अभिन्न और अनिवार्य प्रक्रिया है। इसमें लूट, बल, छल-छद्म, हिंसा व साम्राज्यवाद का प्रयोग भी शुरू से रहा है। कंपनियों द्वारा भारतीय शासक वर्ग से मिलकर घोटाले और भ्रष्टाचार भी इसी प्रक्रिया का हिस्सा है। यह एक भ्रम है कि पूंजीवाद का विकास केवल बाजार तंत्र के जरिए या बाजार के नियमों से हुआ है। मुक्त बाजार और पूर्ण प्रतिस्पर्धा भी भ्रम हैं जो केवल अर्थशास्त्र की किताबों में पाए जाते हैं। आज के विकसित पूंजीवादी देश अपने औद्योगीकरण के दौर में घोर संरक्षणवादी नीतियां अपनाते रहे हैं और कई मायनों में आज भी अपना रहे हैं।

यह भी गौरतलब है कि पूरी दुनिया की औपनिवेशिक तथा नव-औपनिवेशिक लूट के जरिए, बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण और उससे उपजी समृद्धि से जनकल्याण के कार्यक्रमों या सोशल डेमोक्रेसी की जो सुविधा एक ऐतिहासिक दौर में यूरोप और उत्तरी अमरीका के देशों को थी, वह बाकी दुनिया को उपलब्ध नहीं है। एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका में तो पूंजीवाद विकास का मतलब

विस्थापन, गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी, पिछड़ापन और गैर बराबरी ही रहा है। अब तो संकट यूरोप-अमरीका में भी आ रहा है जैसा कि यूनान, आयरलैंड, पुर्तगाल, इटली, स्पेन आदि के मामलों में दिखाई दे रहा है। अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी का पंजा वहां भी जनकल्याणकारी कार्यक्रमों और सोशल डेमोक्रेसी की संभावनाओं का दम घोटता जा रहा है। (देखें वार्ता जनवरी 2013 अंक में यूरोप के संकट पर लेख) इसलिए क्रांतिकारी बनने के अलावा हमारे पास कोई विकल्प नहीं है।

वैश्वीकरण इसी लुटेरे पूंजीवाद का नया दौर है, जिसमें कंपनियों के मुनाफे की अनियंत्रित भूख दुनिया के स्तर पर प्राकृतिक संसाधनों की लूट, श्रम के शोषण और बाजारों पर कब्जे को नई ऊंचाइयों पर ले जा रही है।

वैश्वीकरण इसी लुटेरे पूंजीवाद का नया दौर है, जिसमें कंपनियों के मुनाफे की अनियंत्रित भूख दुनिया के स्तर पर प्राकृतिक संसाधनों की लूट, श्रम के शोषण और बाजारों पर कब्जे को नई ऊंचाइयों पर ले जा रही है। इसका कोई साफ-सुथरा, नैतिक, भ्रष्टाचारमुक्त, जनहितैषी और मानवीय स्वरूप स्थाई रूप से संभव ही नहीं है। इसलिए इसके विकल्प के बारे में सोचना ही पड़ेगा।

इसका कोई साफ-सुथरा, नैतिक, भ्रष्टाचारमुक्त, जनहितैषी और मानवीय स्वरूप स्थाई रूप से संभव ही नहीं है। इसलिए इसके विकल्प के बारे में सोचना ही पड़ेगा। विकल्प केवल संपत्ति संबंधों या मिल्कियत के ढांचे का ही नहीं, उस विकास पद्धति, तकनालाजी, जीवन शैली, और जीवन-मूल्यों का भी

खोजना होगा जो इस पूंजीवादी सभ्यता की उपज हैं।

तीसरे रास्ते की खोज

सोवियत और चीनी प्रयोग जरूर असफल हो गए हैं लेकिन उनसे सीखते हुए एक तीसरा रास्ता ही देश-दुनिया को संकटों से मुक्ति दिला सकता है। जगदीश भगवती और अमर्त्य सेन दोनों से अलग यह तीसरा रास्ता गांधी, शुमाखर, लोहिया, जेपी, फिदेल कास्त्रो और चावेज के आसपास से गुजरता है। क्या केजरीवाल या गरीब दुनिया का कोई और जननेता इस रास्ते का अनुसंधान करने का बीड़ा उठाएगा?

-सुनील

कंपनियों की जय हो

जयंती नटराजन की विदाई दोषपूर्ण विकास मॉडल के साथ जुड़ी है

नियम-कानूनों-प्रक्रियाओं का पालन करने का इनाम मुअत्तली भी हो सकता है। पिछले दिसंबर में पर्यावरण एवं वन मंत्रालय से जयंती नटराजन को हटाकर वीरप्पा मोइली को प्रभार देकर भारत की संप्रग सरकार ने यही संदेश दिया है। मोइली को इसलिए लाया गया ताकि देश में बड़ी-बड़ी कंपनियों की परियोजनाओं की रुकी हुई पर्यावरण स्वीकृति मिल सके और मोइली ने मुस्तैदी से यह काम किया। इस मंत्रालय के पहले 20 दिन में उन्होंने डेढ़ लाख करोड़ रुपए की 70 परियोजनाओं को फटाफट मंजूरी दे दी। काश, यह सरकार किसानों-मजदूरों और आम लोगों के लिए इतनी फुर्ती दिखाती।

इसमें सबसे बड़ी मंजूरी ओडिशा में दक्षिण कोरिया की पोस्को कंपनी को 52,000 करोड़ रुपए का इस्पात कारखाना डालने के लिए दी गई। वहां के ग्रामवासियों के विरोध को भी नजरअंदाज कर दिया गया जो पिछले सात साल से इसके खिलाफ गांधीवादी तरीके से संघर्ष कर रहे हैं। डेढ़ साल पहले पुलिस को रोकने के लिए गर्मी के महीने में महिलाओं व बच्चों ने तपती रेत पर लेटकर जो सत्याग्रह किया था, वह तो अद्भुत और अभूतपूर्व था। जाहिर है कि भारत सरकार के लिए ये सारी बातें मायने नहीं रखती हैं। जो रखती है वह है कंपनियों की खुशी, पूंजी निवेश और राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर।

पोस्को को मंजूरी देने के लिए एक चालाकी की गई। पूरी परियोजना में इस्पात कारखाने के साथ बंदरगाह और लोहे-कोयले की खदानें भी शामिल हैं। उन्हें पर्यावरणीय मंजूरी देने में ज्यादा दिक्कतें थी, इसलिए सबको अलग-अलग करके मंजूरी देना शुरू कर दिया। बाद में यह बहाना बनाया जाएगा कि इतनी बड़ी पूंजी लगाकर कारखाना बन चुका है, तो बाकी मंजूरियां भी दे देनी चाहिए।

मध्यप्रदेश के सिंगरौली जिले में महान के जंगल में कोयला खदान के लिए एस्सार-हिंडालको को पर्यावरणीय

मंजूरी के लिए इसी तरह का कारण बताया गया है कि एस्सार का बिजली कारखाना बन चुका है और बेकार पड़ा है। देश के दो बड़े पूंजीपति घरानों-रुइया और बिड़ला को यह मुंहमांगी मुराद भी स्थानीय गांववासियों के विरोध को नजरअंदाज करके दी गई है। इस मंजूरी के लिए जरूरी वनअधिकार कानून के तहत गांववासियों के दावों के निपटारे का काम भी नहीं हुआ। महान संघर्ष समिति ने सूचना के अधिकार का उपयोग करते हुए उजागर किया है कि जिस ग्रामसभा में इस परियोजना पर सहमति देना बताया जा रहा है, उसमें कई मृत लोगों के भी हस्ताक्षर हैं।

जयंती नटराजन के पहले जब जयराम रमेश के पास वन एवं पर्यावरण मंत्रालय था, तब महान के जंगल को 'नो गो जोन' (प्रवेश वर्जित क्षेत्र) में रखा गया था। तब देश के जंगलों में ऐसे घने और जैविक विविधता से भरपूर इलाके चिन्हित किए गए थे, जहां किसी परियोजना को मंजूरी नहीं दी जाएगी। लेकिन जल्दी ही 'नो गो' को 'गो' में बदल दिया गया।

जयराम रमेश ने कुछ और भी पहल की थी। नए जीन परिवर्तित (जीएम) बीजों के परीक्षण को उन्होंने रोका था। इसीलिए उन्हें हटाकर जयंती नटराजन को लाया गया। जयंती नटराजन ने रमेश की तरह आगे रहकर कुछ नहीं किया, वे तो केवल पर्यावरण और वन के विद्यमान कानूनों, नियमों और प्रक्रियाओं का पालन कर रही थीं। लेकिन इसमें भी कई मंजूरियां रुक गईं। कंपनीपरस्त सरकार को यह बरदाश्त नहीं हुआ। इससे यही जाहिर होता है कि विकास और औद्योगिकरण का मौजूदा मॉडल कितना पर्यावरण विरोधी और जनविरोधी है।

जयंती का निष्कासन कंपनियों, पूंजीपतियों और एक दोषपूर्ण विकास मॉडल की जीत है। अब जीन परिवर्तित बीजों को भी मंजूरी मिल जाएगी। पश्चिमी घाट को बचाने के लिए बनी गाडगिल समिति और उसे हल्का करके के लिए बनी कस्तूरीरंगन समिति की रपटों को भी दफन कर दिया जाएगा।

तीसरे मोर्चे का भ्रम

अलग नीतियों और कार्यक्रम के बगैर विकल्प नहीं दिया जा सकता

गैरकांग्रेस-गैरभाजपा विकल्प की कवायद फिर तेज हो गई है। इस बार वाम मोर्चे के साथ इस प्रयास में नीतीश कुमार भी अग्रणी भूमिका में हैं। एचडी देवेगौड़ा और नवीन पटनायक जैसे चिर-परिचित चेहरे साथ हैं, तो मुलायम सिंह यादव भी इस दांव में अपना हाथ आजमाने की कोशिश में हैं। जयललिता का साथ आ जाना निश्चित रूप से इस कोशिश में लगे दलों की महत्वपूर्ण सफलता है। मुमकिन है कि पिछले अक्टूबर में दिल्ली में सांप्रदायिकता विरोधी सम्मेलन में जिन तीन अन्य पार्टियों ने हिस्सा लिया था, उनमें से भी कई इस कारवां में शामिल हो जाएं। संसदीय तालमेल से शुरुआत के बाद इन दलों का इरादा साझा रैलियों का भी है।

संभव है कि नई गोलबंदी में शामिल पार्टियां अगली लोकसभा में अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति बना लें और चुनाव उपरांत बनने वाले समीकरणों को प्रभावित करने की स्थिति में भी हों। मगर, तब भी क्या यह मानने का आधार होगा कि कांग्रेस और भाजपा से इतर विकल्प तैयार हो गया है? विकल्प का आखिर मतलब क्या है? क्या फौरी सियासी स्वार्थों के मेल पर आधारित गोलबंदी को विकल्प कहा जा सकता है? क्या इसका नीतियों और कार्यक्रमों से कोई वास्ता नहीं होता? आखिर प्रस्तावित ध्रुवीकरण के पास आर्थिक एवं समग्र विकास की क्या अलग नीति और विशिष्ट कार्यक्रम हैं?

अगर यह मोर्चा नव-उदारवादी आर्थिक नीतियों के आधार पर कांग्रेस और भाजपा को अलग रखना चाहता है, तो क्या इसमें शामिल क्षेत्रीय दल किसी अलग रास्ते पर चल रहे हैं? इस गोलबंदी में शामिल दलों को जब कभी

सत्ता में आने का मौका मिला, तो क्या उन्होंने कांग्रेस-भाजपा से अलग आर्थिक नीतियां अपनाई? जाहिर है ऐसा नहीं है। इसलिए यह कहना निराधार होगा कि प्रस्तावित मोर्चा नव-उदारवादी आर्थिक नीतियों के विरोध के लिए बन रहा है।

अगर विभाजक रेखा सांप्रदायिकता है, तो फिर उस मोर्चे से कांग्रेस को किस तर्क से अलग रखने का सोचा गया है? यह समझ से परे है कि इस बिंदु पर कांग्रेस और भाजपा दोनों को किन तर्कों पर यह मोर्चा समान शत्रु मान सकता है? अगर मकसद राज्यों के अधिकारों की रक्षा है, तो ममता बनर्जी, मायावती या डीएमके क्यों उसका हिस्सा नहीं हैं? जाहिर है, प्रस्तावित मोर्चे की कोई वैचारिक या नीतिगत प्रासंगिकता सिद्ध कर पाना कठिन बना रहेगा।

आखिर वे कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी का विरोध क्यों करना चाहते हैं? यह महज चुनावी समीकरणों एवं सियासी सौदेबाजी में अपना भाव बढ़ाने की कोशिश है या इसके पीछे कोई वैकल्पिक नीति और कार्यक्रम भी हैं? अनुभवों के आधार पर यह मानना कठिन है कि ये दल कोई वैचारिक विकल्प देने में सक्षम हैं। दरअसल, इसकी इच्छाशक्ति भी उनमें है, यह संदिग्ध है।

इस प्रयास की एक और मुश्किल यह है कि जयललिता और नवीन पटनायक के अलावा नए मोर्चे में इकट्ठे हो रहे लगभग तमाम दल अपने-अपने राज्यों में मुश्किल हालात में हैं। यानी अल्पकालिक सहयोग से राष्ट्रीय राजनीति में लाभ पाने की उनकी मंशा भी सफल होगी, इसकी संभावना कम है। जाहिर है, लोग इस कोशिश को मौसमी उछल-कूद से ज्यादा कुछ नहीं मानेंगे।

टोल का महंगा मोल

सड़कों के निजीकरण ने भ्रष्टाचार के नए अवसर पैदा किए हैं

भले ही महाराष्ट्र नवनिर्माण सेना द्वारा टोल वसूली नाकों पर तोड़-फोड़ के पीछे एक चुनावी कोण हो, लेकिन टोल टैक्स के प्रति व्यापक जन असंतोष को नकारा नहीं जा सकता। लंबी दूरी जाने वाली कारों या डीलक्स बसों को यह

उतना नहीं अखरता, लेकिन स्थानीय गाड़ियों के मालिकों का कई बार टोल नाके वालों से झगड़ा होता रहता है। उन्हें यह बहुत ज्यादा महसूस होता है। टोल दरों और टोल अवधि के निर्धारण में मिलीभगत और भ्रष्टाचार की शंकाएं भी

निराधार नहीं है। सड़कें बनाने और रखरखाव की जितनी लागत होती है, उससे बहुत ज्यादा टोल टैक्स की वसूली अक्सर की जाती है। रखरखाव और मरम्मत भी ठीक से नहीं की जाती है।

देश में सड़कों के निजीकरण और बीओटी (बनाओ, चलाओ और छोड़ दो) योजना लागू करने वाले प्रांतों में मध्यप्रदेश अग्रणी है। इसने सड़कें बनाने के लिए निजी कंपनियों को भारी अनुदान (कुछ मामलों में बढ़ा-चढ़ाकर बताई गई लागत का 60-70 फीसदी तक) भी दिया है। नियंत्रक और महालेखा परीक्षक (कैग) की एक रपट में बताया गया कि 2004 से 2009 के बीच मध्यप्रदेश की 9 टोल सड़कों पर 316 करोड़ रुपए की अतिरिक्त वसूली की गई। समाजवादी जन परिषद ने इस मुद्दे को उठाया है।

महाराष्ट्र के बारे में कैग की 2004-05 की रपट में बताया गया कि जिस मुंबई-पुणे एक्सप्रेस मार्ग को महाराष्ट्र सरकार ने खुद अपने खर्च से बनाया था, उस पर टोल टैक्स वसूली का ठेका 918 करोड़ रुपए में दिया गया, जबकि इस मार्ग पर कमाई को देखते हुए कम से कम 2236 करोड़ रुपए में दिया जाना था। आइडियल रोड विल्डर्स नामक जिस फर्म को यह एक ठेका दिया गया, उसके मालिकों के पिछली भाजपा-शिवसेना सरकार के लोक निर्माण मंत्री रहे नितिन गडकरी और मौजूदा सरकार के लोक निर्माण मंत्री छगन भुजबल दोनों के साथ घनिष्ठ रिश्ते रहे हैं।

टोल टैक्स की वसूली भारत की सड़कों का इस्तेमाल करने वालों पर बोझ को तिहरा बना देती है। वे रोड टैक्स देते हैं। जब वे डीजल या पेट्रोल खरीदते हैं तो प्रति लीटर पर दो रुपए का अधिभार देते हैं, जिससे एक रुपया शिक्षा के विकास के लिए होता है और एक रुपया सड़क निर्माण के कोष में जाता है। फिर, एक ही सेवा के लिए, टोल टैक्स के रूप में तीसरे शुल्क की वसूली का क्या औचित्य है?

पहले टोल टैक्स की वसूली केवल सरकार द्वारा बनाए गए बड़े पुलों पर उनकी लागत निकल जाने तक होती थी। लेकिन सड़कों के निजीकरण के साथ हर जगह टोल नाकों का अंबार लग गया। इसे 'पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप' नाम दिया गया, लेकिन पब्लिक के हिस्से में जेब खाली करने का एक और तरीका ही आया। निजी कंपनियों व ठेकेदारों तथा मंत्रियों, नेताओं, अफसरों की जरूरतें-अवैध कमाई बढ़ गई। जनता से इतनी ही वसूली करना है तो सरकार स्वयं सड़कें क्यों नहीं बना सकती है? आखिर निजी फर्मों को बुलाने के पीछे तर्क यही था कि सरकार के पास पूंजी नहीं है और निजी फर्म कम खर्च में अच्छी सुविधाएं देगी।

एक बार फिर, निजीकरण की पूरी प्रक्रिया पर गंभीर सवाल खड़े होते हैं। इसने जनता पर बोझ बढ़ाया है, भ्रष्टाचार के नए अवसर पैदा किए गए हैं और बेहतर सेवाओं को भी हर जगह सुनिश्चित नहीं कर पाई है। क्या इस पर पुनर्विचार की जरूरत नहीं है?

गतिशील किराया यानी अमीरों की सेवा

बाजारवादी प्रबंधन भारतीय रेलवे को बरबादी की ओर ले जाएगा

डायनेमिक फेयर यानी गतिशील किराया। इस साल रेलवे का मिनी बजट (लेखानुदान मांगें) पेश करते हुए रेलमंत्री ने एक नई अवधारणा और व्यवस्था शुरू की है। उन्होंने देश के प्रमुख नगरों को जोड़ने वाली जयहिंद एक्सप्रेस के नाम से 17 प्रीमियम गाड़ियां शुरू करने की घोषणा की है, जिनका किराया निश्चित नहीं होगा। एक न्यूनतम किराया होगा जो राजधानी एक्सप्रेस के तत्काल टिकट के बराबर होगा। उसके ऊपर जैसी मांग होगी, उस हिसाब से किराया बढ़ा दिया जाएगा। याने हवाई किरायों में जो व्यवस्था लागू है, रेलवे में भी उसकी शुरुआत की जाएगी।

इसके पीछे तर्क दिया गया है कि इससे रेलवे की आय

बढ़ेगी। पिछले दिनों क्रिसमस की छुट्टियों में मुंबई-दिल्ली के बीच एक स्पेशल गाड़ी चलाई गई थी, उसमें यह प्रयोग किया गया था जिससे रेलवे को 48 फीसदी ज्यादा कमाई हुई। तो जो ज्यादा पैसा दे सकते हैं, उनसे क्यों न लिया जाए?

अपने आप में यह तर्क ठीक मालूम होता है। लेकिन यदि यह एक शुरुआत है और धीरे-धीरे रेलवे के व्यवसायिक प्रबंधन को इसी तर्ज पर ढाला जाएगा तो कई समस्याएं खड़ी हो जाएगी। यह एक शुद्ध बाजारवादी व्यवस्था है। जो ज्यादा किराया दे सकेगा उसे सीट मिल जाएगी। जिसके पास कम पैसा है वह वंचित रह जाएगा। यदि साधारण एक्सप्रेस गाड़ियों के गैर-वातानुकूलित डब्बों

में भी गतिशील किराये लागू किए गए तो फिर बहुत सारे गरीब व साधारण हैसियत के लोग यात्रा से वंचित रह जाएंगे या फिर मजबूरी में ज्यादा किराया देंगे। तब यह अमीरों से ज्यादा वसूली का मामला नहीं रह जाएगा। रेलवे साधारण भारतीयों की जेब खाली करने लगेगी। एक तरह से 'तत्काल' सेवा के साथ रेलवे ने पहले ही इस भेदभाव और वसूली की शुरुआत कर दी थी।

दूसरी बात यह है कि ज्यादा किराये लेकर प्रीमियम वातानुकूलित गाड़ियां चलती गईं तो धीरे-धीरे रेलवे का पूरा ध्यान, सुविधाएं और संसाधन उन्हीं पर केंद्रित होते जाएंगे और बाकी की उपेक्षा होती जाएगी। जैसे लालू प्रसाद यादव ने वातानुकूलित 'गरीब रथ' चलाकर गरीबों का मजाक उड़ाया था, वैसे ही 'जयहिंद एक्सप्रेस' में हिंद का साधारण नागरिक यात्रा करने की कल्पना भी नहीं कर सकेगा और यह 'जय अमीर एक्सप्रेस' बन जाएगी।

आजादी के आंदोलन में कल्पना की थी कि आजाद भारत में सार्वजनिक सेवाओं में अमीर-गरीब का भेद नहीं होगा। इसी लिए आजादी मिलने पर रेलवे की तृतीय श्रेणी

खत्म कर दी गई। लेकिन धीरे-धीरे फिर कई श्रेणियां बना दी गईं। कई श्रेणियों की गाड़ियां भी चला दी गईं। इससे साधारण गाड़ियां और साधारण डब्बे उपेक्षित और बदहाल होते जा रहे हैं। पैसेंजर गाड़ियां इन दिनों बहुत लेट चल रही हैं। इसलिए पहली बार रेलवे की यात्रियों से आय बढ़ने के बजाए कम हुई है। वर्ष 2013-14 में यात्री किराये बढ़ाने के बावजूद रेलवे की यात्रियों से आय में 11 फीसदी की कमी का अनुमान है, जो मुख्य रूप से द्वितीय श्रेणी की टिकट बिक्री में 18 फीसदी कमी के कारण होगी। ऐसा लगता है कि पैसेंजर गाड़ियां काफी देरी से चलने के कारण छोटी दूरी के साधारण यात्री अब सड़क यातायात (बस, जीप, मोटरसाइकिल आदि) का सहारा ले रहे हैं। तो कहीं ऐसा न हो कि रेलवे की आमदनी बढ़ाने के नाम पर जिस प्रवृत्ति को शुरु किया जा रहा है, वही रेलवे को ले डूबे।

भारतीय रेलवे सार्वजनिक क्षेत्र में भारत का ही नहीं, दुनिया का एक अनूठा उपक्रम है। इसे अमीर केंद्रित बनाना, चोर दरवाजे से बढ़ता निजीकरण और बाजारवादी प्रबंधन इसे बरबाद करने की ओर ले जाएगा।

गोवा में जुआ

संस्कृति की दुहाई देने वाली भाजपा ने फिर यू-टर्न लिया है

गोवा देश के उन चुनिंदा राज्यों में है जहां जुआ कानूनी है। वहां पर कई आधुनिक जुआघर हैं जिन्हें केसिनो कहा जाता है। ये केसिनो मंडोवी नदी के समुद्री मुहाने में तैरती नौकाओं पर भी हैं और समुद्रतट पर या अन्यत्र जमीन पर पांच सितारा होटलों में भी हैं। तर्क यह है कि इनसे गोवा में पर्यटन व्यवसाय बढ़ता है।

इन जुआघरों के खिलाफ गोवा की जनता का एक आंदोलन खड़ा हो गया है, क्योंकि गोवा के युवाओं पर इसका गलत असर पड़ रहा है। विगत जुलाई में एक 20 वर्षीय नौजवान ऐसे ही तैरते हुए केसिनो से गिरकर डूबकर मर गया। वहां पर कई संगठनों व नागरिकों ने मिलकर, 'जुआ विरोधी आम औरत और आदमी' नामक मंच बनाया है।

जब तक भारतीय जनता पार्टी सत्ता से बाहर थी, उसने केसिनो-विरोधी आंदोलन का समर्थन किया था। लेकिन सत्ता में आने के बाद भाजपाई मुख्यमंत्री मनोहर पर्रीकर

केसिनो बंद करने में काफी हील-हवाला कर रहे हैं। उन्होंने राज्य के जुआ कानून में संशोधन किया, लेकिन उसके नियम बनाने में एक साल लगा दिया। उसमें भी इतना ही प्रावधान है कि इन केसिनो में गोवा के लोगों को प्रवेश नहीं दिया जाएगा। मंडोवी नदी से केसिनो को बाहर करने के बजाय सहारा और जी समूहों जैसी बड़ी कंपनियों को लाईसेंस देने की बात चली रही है।

अचरज की बात है कि भारतीय संस्कृति की दुहाई देने वाली भाजपा की सरकार गोवा में विदेशी नकल पर चलने वाले इन जुआघरों को बचाने और बढ़ाने का काम कर रही है। जो तत्व प्रेमी जोड़ों पर हमला करने और किताबों व कलाकृतियों का विरोध करने की गुंडागर्दी में आगे रहते हैं, उन्हें इसमें बुराई नजर नहीं आ रही है। इसके पहले भारत सरकार में आने पर 'स्वदेशी' पर भी ऐसा ही यू-टर्न भाजपा ने लिया था। भाजपा और संघ परिवार का पाखंड और अविश्वसनीय चरित्र एक बार फिर उजागर हुआ है।

गुजरात का सच

कश्मीर उप्पल

गुजरात को पूरे देश के लिए विकास मॉडल और नरेंद्र मोदी को 'विकास पुरुष' बताया जा रहा है। लेकिन विकास ज्यादातर कंपनियों का हुआ है, साधारण लोग इसमें पीछे छूट गए हैं। आर्थिक वृद्धि दर में आगे गुजरात शिक्षा, सेहत, पोषण, सफाई, रोजगार, मजदूरी, पर्यावरण रक्षा आदि में काफी पीछे हैं। 'याराना पूंजीवाद' के साथ 'याराना संप्रदायवाद' का घालमेल गुजरात में हुआ है।

कश्मीर उप्पल
सेवानिवृत्त प्रोफेसर, कवि
एवं लेखक हैं।

पता:

एमआईजी-31,
प्रियदर्शिनी नगर, न्यास
कालोनी,
इटारसी(म.प्र.) 461111

फोन:

09425040457

यह एक पौराणिक किस्सा है जिसका संबंध गुजरात से है। श्रीकृष्ण ने यमुना किनारे स्थित गोकुल और मथुरा छोड़ने के बाद गुजरात में समुद्र किनारे स्थित द्वारका को अपनी राजधानी बनाया था। लेकिन दोनों जगह श्रीकृष्ण का आचरण विपरीत दिखाई देता है। जब इंद्र द्वारा अतिवृष्टि से बृज डूबने को था तो उसे बचाने के लिए श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को अपनी छोटी उंगली पर उठा लिया था। लेकिन उसी श्रीकृष्ण ने द्वारका को सागर द्वारा डुबाए जाने पर बचाने का कोई प्रयास नहीं किया। क्यों?

दरअसल द्वारका में श्रीकृष्ण के परिजनों ने अपने धर्म का पालन करना छोड़ दिया था। सामान्य नागरिक ही नहीं, तपोवन के ऋषि भी यादव कुमारों के झगड़ों, उत्पीड़न और अत्याचारों से दुखी थे। उत्पीड़न की पराकाष्ठा हो जाने पर उन्होंने यादवों को अभिशाप दे दिया। फलस्वरूप यादव आपस लड़कर खतम हो गए और संसार-सागर में द्वारका डूब गई। भगवान होते हुए भी श्रीकृष्ण ने उसे डूब जाने दिया।

बात यह है कि श्रीकृष्ण दोनों जगह अपने राजधर्म का पालन कर रहे थे। प्रजा के हितों की रक्षा हो और अत्याचारियों को (चाहे वे अपने ही क्यों न हों) सजा मिले, दोनों राजधर्म का हिस्सा है। लेकिन आज उसी गुजराती अस्मिता के प्रतीक बन कर उभरे, भारतीय संस्कृति और धर्म की दुहाई देने वाले, भारतीय जनता पार्टी के प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार नरेंद्र मोदी इस कसौटी पर बुरी तरह असफल दिखाई देते हैं। 2002 में गुजरात में मुसलमान विरोधी मारकाट के वक्त तो राजधर्म का पालन न करने के लिए उनके नेता और तत्कालीन

प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपयी ने उन्हें उलाहना दिया ही था। एक राजनेता के रूप में नरेंद्र मोदी पर लगे इस कलंक को ढकने व छिपाने के लिए उन्हें 'विकास पुरुष' के रूप में पेश किया जा रहा है। गुजरात में जबरदस्त विकास हुआ है और मोदी प्रधानमंत्री बने तो पूरे देश का ऐसा विकास हो जाएगा, यह सपना मोदी, उनका प्रचार तंत्र और भाजपा दिखा रहे हैं। यह भी कहा जा रहा है कि नरेंद्र मोदी ही समाज के विभिन्न वर्गों और समुदायों की समस्याओं को हल कर सकते हैं।

लेकिन असलियत क्या है? पड़ताल करने पर मालूम होता है कि गुजरात में भी कंपनियों, पूंजीपति घरानों और खास वर्गों का विकास ही हुआ है, सामान्य जन को इस विकास में ज्यादा हिस्सा नहीं मिला है। कंपनियों को तरहीज देने से कई तरह के असंतुलन और संकट पैदा हो गए हैं। दूसरे शब्दों में, मोदी ने इस मायने में भी राजधर्म का पालन नहीं किया है। तथाकथित गुजरात मॉडल में कई पेंच और समस्याएं हैं और इसे देश के स्तर पर लागू करना न तो उचित होगा और न संभव होगा। आइए, देखते हैं कि कथित गुजरात मॉडल का सच क्या है?

वृद्धि दर का तिलिस्म

यह सही है कि पिछले दशक में गुजरात की आर्थिक वृद्धि दर बहुत अच्छी रही है। यह 10 फीसदी से ऊपर रही है, जबकि भारत की राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर इस दशक में औसतन 8 फीसदी से नीचे रही है। इसी तरह गुजरात की प्रति व्यक्ति आय भी राष्ट्रीय औसत से काफी ऊपर है। गुजरात का औद्योगिक उत्पादन भी

तेजी से बढ़ा है। इस मामले में दो बातों पर गौर करना चाहिए। एक तो यह कि आर्थिक वृद्धि दर, औद्योगिक वृद्धिदर और प्रति व्यक्ति आय के नजरिए से कई अन्य राज्यों का प्रदर्शन गुजरात से बेहतर है जैसे महाराष्ट्र, तमिलनाडु, हरियाणा, आंध्रप्रदेश, हरियाणा आदि। प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से इस समय भारतीय राज्यों में गुजरात का स्थान 9वां है। वृद्धि दर तो पिछले सालों में छत्तीसगढ़, बिहार और उत्तराखंड की भी बहुत अच्छी रही है, गुजरात से भी बेहतर। तो यदि अनुकरण करना ही है तो गुजरात का ही क्यों? बाकी राज्यों का क्यों नहीं?

गुजरात पहले से अग्रणी

दूसरी बात यह है कि गुजरात की सारी आर्थिक उपलब्धियां मोदी के प्रयासों का परिणाम नहीं है। गुजरात 2002 के पहले से ही उद्योगों और शहरीकरण के मामले में अग्रणी राज्य था। गुजरात की कुछ ऐतिहासिक विशिष्टताएं जैसे गुजराती लोगों की विशिष्ट तकनीकी और उद्यमी योग्यता, मजबूत कृषि की परंपरा, गुजरातियों की अंतरराष्ट्रीय क्षेत्रों में उपस्थित, सामाजिक सुधार और सहकारी आंदोलन के संस्कारों ने गुजरात के विकास में विशेष योगदान दिया है। सन् 2002 में गुजरात का मुख्यमंत्री बनने के बाद जिन उद्योगों को गुजरात के विकास का मॉडल बताया जा रहा है, उनकी स्थापना बहुत पहले ही हो चुकी थी। उदाहरणस्वरूप अमूल डेयरी की स्थापना 1946 में हुई थी। 1970 के दशक में डॉ. वर्गीज कुरियन ने अमूल को आधुनिक और नया स्वरूप प्रदान किया था। गुजरात के अग्रणी डेयरी उद्योग का श्रेय कुरियन को मिलना चाहिए, न कि मोदी को। मोदी कोलकाता और मुंबई के भाषणों में अमूल डेयरी की कई उपलब्धियों को अपनी बताते हैं। सन 1996 में गुजरात में 1500 बड़े और मध्यम उद्योग और 1,84,119 लघु उद्योग रजिस्टर्ड थे। इनमें कपड़ा, रसायन, पेट्रोरसायन, आईपीसीएल का काम्पलेक्स और गुजरात तेल रिफाइनरी प्रमुख हैं। स्वतंत्रता के पूर्व से ही अहमदाबाद 'मैनचेस्टर ऑफ इंडिया' कहलाता था।

कंपनियों पर लुटता खजाना

यह भी देखना होगा कि गुजरात में औद्योगिक विकास किस कीमत पर हो रहा है। गुजरात में निजी पूंजी निवेश को आकर्षित करने के उद्देश्य से उद्योगपतियों के हित वाली नीतियों का निर्माण हुआ है। गुजरात सरकार द्वारा उद्योगपतियों

को दी जाने वाली सुविधाओं में नाममात्र के मूल्य पर भूमि, नाममात्र के ब्याज पर पूंजी, यातायात के साधन, बिजली, पानी की सुविधा और करों में व्यापक छूट आदि शामिल हैं।

महालेखा नियंत्रक एवं अंकेक्षक (कैग) की ताजी रपट गुजरात सरकार द्वारा कंपनियों के हित में राज्य के कोष के दुरुपयोग के कई उदाहरणों से भरी पड़ी है। इस रिपोर्ट के अनुसार गुजरात सरकार पर गतवर्ष की तुलना में 41 प्रतिशत अधिक ऋणभार बढ़ गया है। इस सरकार को अपने मौद्रिक घाटे को पूरा करने के लिए 15,000 करोड़ से अधिक का ऋण लेना पड़ा है।

गुजरात सरकार ने सरकारी कंपनियों, ग्रामीण बैंक और संयुक्त उपक्रमों के कोष से लगभग 39,000 करोड़ रुपए कंपनियों में निवेश किए हैं। इस निवेश की पिछले पांच सालों में केवल 0.25 प्रतिशत ही वसूली हो सकी है जबकि गुजरात सरकार को अपने ऋण पर पौने आठ प्रतिशत ब्याज का भुगतान करना पड़ रहा है।

एक आकलन के मुताबिक मोदी के कार्यकाल में बड़े उद्योगों और आधारभूत संरचना की बड़ी परियोजनाओं को जो अनुदान, मदद और रियायतें दी गई हैं वे कुल राज्य बजट का 40 फीसदी हैं। उद्योगों को जो कुल मदद दी जा रही है, उसमें छोटे व मध्यम उद्योगों का हिस्सा केवल 2.3 फीसदी है। मोदी के कार्यकाल में खेती और खाद्य अनुदानों पर जितना खर्च किया गया, उससे 10 गुना कंपनियों को आकर्षित करने में खर्च किया गया। केवल बिक्री कर (वैट) को ही लें तो 1999-2000 और 2006-07 के बीच बड़े व मध्यम उद्योगों को जो छूटें दी गईं, वे गुजरात सरकार की इस कर से आय का 72 फीसदी थीं।

पूंजीपतियों को तोहफे

इस तरह नरेंद्र मोदी ने 2002 में मुख्यमंत्री बनने के बाद गुजरात की व्यवसायिक परंपराओं में 'याराना-पूंजीवाद' की एक नई परंपरा अवश्य जोड़ी है। इसे नैनो कार के कारखाने के लिए टाटा मोटर्स और गुजरात सरकार के आपसी समझौते से देखा जा सकता है। वैसे इस समझौते को सार्वजनिक नहीं किया गया है। फिर भी उपलब्ध जानकारी से यह स्पष्ट होता है कि गुजरात सरकार ने टाटा मोटर्स को 0.1 प्रतिशत ब्याज पर 20 साल के लिए 9750 करोड़ रुपए दिए हैं। इसके अलावा कारखाने की 960 हेक्टेयर जमीन भी बहुत मामूली कीमत एक रूपया प्रति वर्ग फीट पर दी है। इसके साथ-साथ अहमदाबाद के निकट 100 हेक्टेयर

जमीन भी टाटा टाउनशिप के लिए दी जानी है। पिछले वर्ष विधानसभा में गुजरात की राजस्व मंत्री आनंदीबेन पटेल ने बताया कि अदानी समूह को 5465 हेक्टेयर जमीन 60 करोड़ रुपए में दी गई है। यानी बेशकीमती औद्योगिक भूमि के लिए केवल 10 हजार रुपए प्रति हेक्टेयर लिया गया है।

नियंत्रक एवं महालेख परीक्षक (कैग) ने रिलायंस इंडस्ट्रीज लि.को गुजरात में दी गई कई आर्थिक सुविधाओं पर आपत्ति उठाई है। इससे स्पष्ट होता है कि गुजरात के विकास मॉडल में किस तरह जनता के करोड़ों-अरबों रुपयों का इस्तेमाल उद्योगपतियों को खुश करने के लिए किया गया है। जिसे 'गुजरात मॉडल' कहा जाता है वह देशी-विदेशी कंपनियों को दी जाने वाली सुविधाओं का घोषणापत्र ही है। 'गुजरात मॉडल' से लाभान्वित कंपनियां भी अपने-अपने मंचों पर 'गुजरात मॉडल' की प्रशंसा करती रहती हैं।

संकुचित औद्योगीकरण

गुजरात का औद्योगीकरण भी ऐसा हो रहा है, जिसका आधार काफी संकुचित और असंतुलित है। इसमें एक बड़ा हिस्सा तेल शोधन (पेट्रोलियम रिफायनिंग) उद्योग का है। गुजरात के पंजीकृत उद्योगों के कुल उत्पादन में 2000-01 में तेल शोधन उद्योग को हिस्सा 4 फीसदी था, जो एक दशक बाद बढ़कर 25 फीसदी हो गया। इसका मतलब है कि बाकी उद्योगों का हिस्सा कम हो रहा है। तेल शोधन उद्योग का यह विशाल हिस्सा समुद्र किनारे जामनगर स्थित केवल दो विशाल कारखानों के कारण है- एक रिलायंस कंपनी का और दूसरा एस्सार कंपनी का। यह ऐसा उद्योग है जो पूरा आयात-आधारित है (कच्चा तेल विदेश से आता है), जिसका लगभग पूरा उत्पादन निर्यात होता है, जो भारी मशीनीकृत व पूंजी-सघन है और जो भारी प्रदूषणकारी है। याने इस उद्योग से उत्पादन और जीडीपी जरूर बढ़ जाते हैं, लेकिन देश या प्रदेश के अंदर ज्यादा फायदा नहीं होता है। किसी अन्य उद्योग के आगे और पीछे के जुड़ाव से स्थानीय स्तर पर रोजगार व आय का जो सृजन होता है, वह भी नहीं होता और खुद इसमें भी ज्यादा रोजगार नहीं मिलता। प्रदूषण से (पर्यावरण और जीवन का) नुकसान जरूर होता है।

रोजगार-मजदूरी की बुरी हालत

औद्योगीकरण के इस खास चरित्र के कारण इतने उद्योग लगने के बावजूद गुजरात में रोजगार ज्यादा नहीं



बढ़ा है और जो बढ़ा है, उसकी हालत बहुत अच्छी नहीं है। 1993-94 से 2009-10 के बीच गुजरात में रोजगार वृद्धि की दर केवल 1.7 फीसदी रही है। यह बढ़ोतरी भी ज्यादातर शहरी असंगठित, असुरक्षित व ठेका मजदूरी के रूप में हुई है। प्रदेश के कारखानों में 2001-01 में 27 फीसदी ठेका मजदूर थे, जो 2007-08 में बढ़कर 37 फीसदी हो गए। गुजरात के संगठित क्षेत्र (जहां दस या दस से ज्यादा कर्मचारी या मजदूर हैं) की मजदूरी में पिछले दशक में केवल डेढ़ फीसदी की वृद्धि हुई है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के नवीनतम आंकड़ों के मुताबिक गुजरात में वेतनभोगी लोगों की औसत दैनिक आमदनी 311 रुपए है जो राष्ट्रीय 411 रुपए से 100 रुपए कम है। दिहाड़ी मजदूरों की औसत आमदनी मात्र 115 रुपए रोज है जो देश के कई दूसरे हिस्सों से काफी कम है। जाहिर है कि उद्योगपतियों और ठेकेदारों के हित में गुजरात सरकार की मदद से मजदूरी कम करके रखी गई है। इसीलिए वर्ष 2011 की आर्थिक समीक्षा में बताया गया है कि श्रमिक अशांति (हड़तालों, तालाबंदी आदि)के हिसाब से खराब राज्यों में गुजरात सबसे ऊपर है। याने गुजरात के कथित विकास के फायदे मजदूरों और मेहनतकशों तक नहीं पहुंच रहे हैं। गुजरात के श्रम और रोजगार पर 2011 में प्रकाशित एक अध्ययन में अर्थशास्त्री इंदिरा हीरवे ने टिप्पणी की है, "भारत का सबसे तेजी से बढ़ता राज्य मजदूरी वृद्धि के मामले में सबसे पीछे है।"

बढ़ते गरीब

वैकल्पिक आर्थिक समीक्षा 2013 के अनुसार गुजरात ने राज्य सकल उत्पाद में उपलब्धियां हासिल की हैं, इसके

बावजूद गुजरात के एक तिहाई लोग गरीबी रेखा के नीचे जीवन जी रहे हैं। तथ्य यह है कि 2000 में गुजरात के गांवों में गरीबी रेखा से नीचे 23.21 लाख परिवार थे जो अब बढ़कर 30.49 लाख हो गए हैं यानी उनमें 31 फीसदी की वृद्धि हुआ है। उपभोग व्यय, गरीबी उन्मूलन तथा असमानता की समाप्ति में गुजरात अन्य राज्यों विशेषकर महाराष्ट्र तथा तामिलनाडु से पीछे रह गया है। गुजरात में आर्थिक-सामाजिक असमानता राष्ट्रीय स्तर की असमानता के बराबर ही है।

नीची गरीबी रेखा

गुजरात की गरीबी रेखा के मामले में पिछले दिनों एक विवाद उभरकर आया जिससे पता चला कि यह रेखा कितनी हास्यास्पद रूप से कम कर के रखी गई है। इसके पहले नरेंद्र मोदी ने अपने भाषणों में केंद्रीय योजना आयोग के 26 और 32 रुपए रोज की गरीबी रेखा का मजाक उड़ाया था। लेकिन हाल ही में पता चला कि गुजरात में प्रभावी गरीबी रेखा गांवों के लिए 10 रुपए 80 पैसे प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन और शहरों के लिए 16 रुपए 80 पैसे बनाकर रखी गई है। यानी इससे अधिक खर्च करने वालों को गुजरात में गरीब नहीं माना जाता है और सस्ते अनाज सहित अनेक कल्याणकारी योजनाओं व मदद से वंचित रखा जाता है। चारों ओर से आलोचना होने पर गुजरात सरकार ने बचाव में कहा कि गुजरात के लिए गरीबी रेखा केंद्रीय योजना आयोग ने तय की है। लेकिन इस अन्यापूर्ण गरीबी रेखा को गुजरात सरकार ने मंजूर क्यों किया? छत्तीसगढ़, तामिलनाडु, आंध्रप्रदेश, ओडिशा आदि की सरकारों ने गरीबी रेखा की विसंगति को देखते हुए इससे ऊपर की ज्यादातर आबादी के लिए सस्ता अनाज मुहय्या कराया है। इस पर टिप्पणी करते हुए समाजवादी जनपरिषद के नेता चंद्रभूषण चौधरी कहते हैं,

“निकम्मा मोदी एक छोटे राज्य गुजरात में गरीबों को खाद्य सुरक्षा नहीं दे सकता है, वह प्रधानमंत्री बनने पर पूरे देश के गरीबों की क्या दुर्गत करेगा, यह आप सोच सकते हैं।”

सिक्के का दूसरा पहलू

गुजरात के एक मंत्री ने यह भी कहा कि गुजरात में गरीबों की संख्या बिहार, ओडिशा जैसे बाहर के मजदूरों के आने से बढ़ रही है। प्रवासी मजदूर गुजरात की गरीबी के

लिए जिम्मेदार हैं। बेशरमी से दिए गए इस बयान में परोक्ष रूप से वे एक कड़वे सत्य को भी स्वीकार कर रहे हैं। वह यह कि गुजरात की समृद्धि और प्रगति देश के पिछड़े इलाकों के मजदूरों का शोषण करके हासिल की जा रही है। इसी बात का और विस्तार करें तो समझ में आता है कि गुजरात जैसे समृद्ध राज्यों के विकास का एक और पहलू है। भारत के पिछड़े इलाकों के श्रम और प्राकृतिक संसाधनों का बहुत सस्ते में दोहन भी इसके पीछे है। दूसरे शब्दों में, आंतरिक उपनिवेश बनाने वाली इस प्रक्रिया में यदि गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, हरियाणा, दिल्ली की समृद्धि सिक्के का एक पहलू है तो बिहार, यूपी, झारखंड, ओडिशा, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तराखंड आदि का पिछड़ापन सिक्के का दूसरा पहलू है। यदि यह सच है तो गुजरात मॉडल को पूरे देश में लागू करना संभव ही नहीं है।

दो गुजरात

लेकिन अंतर्विरोध और द्वंद्व गुजरात के भीतर भी है। गुजरात की प्रति व्यक्ति आय वृद्धि की दौड़ में गरीब, दलित, आदिवासी, मजदूर, किसान, असंगठित क्षेत्र और गांव काफी पीछे छूट गए हैं। गुजरात के भीतर भी दो गुजरात बन रहे हैं। एक छोटा अत्याधुनिक दायरा जिसको विकास की मलाई मिल रही है और बाकी विशाल दायरा जिसमें असंगठित क्षेत्र, ठेका मजदूर, शहरों की झोपड़पट्टियां, गांव, आदिवासी इलाके व पिछड़े इलाके आते हैं जिनको खुरचन भी नहीं मिल रही है। तकनालाजी, आमदनी और उत्पादकता के मामले में वे पीछे हैं। भले ही नरेंद्र मोदी और भाजपा चाय वाले की बात करें, लेकिन गुजरात का विकास दर असल अदानी, अंबानी, टाटा और रुइया के लिए हो रहा है, चायवाले या ठेला मजदूर के लिए नहीं। कंपनियों को विशाल अनुदान और कारों छूट देने से सरकार शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण, सफाई तथा अन्य कल्याणकारी कामों पर बहुत ध्यान नहीं दे पाई है। आर्थिक वृद्धि दर में आगे रहने वाला गुजरात सामाजिक और मानव विकास के नजरिए से काफी पिछड़ा रहा है।

शौचालय और आंगनबाड़ियां नहीं

2012-13 की इंडिया रूरल डेपलेपमेंट रिपोर्ट के मुताबिक भारत में केवल 18 फीसदी ग्रामीण परिवारों के पास पेयजल, शौचालय और बिजली तीनों की सुविधा है। गुजरात की हालत कुछ बेहतर है, फिर भी वहां यह संख्या

केवल 25 फीसदी है। देश के 13 राज्यों की स्थिति गुजरात से बेहतर है और केरल में तो यह आंकड़ा 71 फीसदी है। राज्य के 52 लाख घरों में शौचालय नहीं है। गुजरात में कई जगह आज भी इंसानों द्वारा मैला ढोने का काम चल रहा है। खुद अहमदाबाद शहर में 126 जगह पर अभी यह अमानवीय काम हो रहा है। शर्मनाक यह भी है कि नरेंद्र मोदी ने अपनी पुस्तक 'कर्मयोग' में मैला ढोने के इस काम को यह कहकर उचित ठहराने की कोशिश कि यह तो एक 'आध्यात्मिक अनुभव' है।

केंद्र सरकार के मानदंडों (400 से 800 की आबादी पर एक आंगनवाड़ी तथा आदिवासी इलाकों में 300-600 की आबादी पर एक) के मुताबिक गुजरात में 75,480 आंगनवाड़ियां होनी चाहिए, लेकिन गुजरात सरकार ने 52,135 आंगनवाड़ियों को ही स्वीकृति दी है। इनमें से भी मार्च 2012 में 50,225 ही काम कर रही थी। गौरतलब है कि बच्चों और माताओं का कुपोषण दूर करने के लिए केंद्र सरकार आंगनवाड़ियों के लिए अनुदान देती है। इसके बावजूद कथित 'विकास पुरुष' यह काम नहीं कर पाए। यह भी नोट करने लायक है कि 2012 की कैग रपट के मुताबिक गुजरात की 18,321 आंगनवाड़ियों में शौचालय नहीं हैं।

शिक्षा की परवाह नहीं

गुजरात की शिक्षा की एक झांकी एक रपट से मिलती है। लोक सभा के पिछले सत्र में शिक्षा के अधिकार कानून पर राष्ट्रीय शिक्षा अनुसंधान परिषद (एनसीईआरटी) की स्थिति रपट सदन के पटल पर रखी गई थी। इस रपट के अनुसार पूरे देश में वित्तवर्ष 2013-14 तक शिक्षकों के पदों को भरने का लक्ष्य 72 फीसदी हासिल किया जा सका है।

इस रपट के अनुसार पिछले वर्ष सितंबर माह तक वित्त वर्ष 2013-14 तक के लक्ष्य का केवल 53 प्रतिशत कार्य गुजरात में पूरा किया जा सका है। गुजरात के अलावा दिल्ली में 54 प्रतिशत, झारखंड में 67 प्रतिशत, पश्चिम बंगाल और उत्तर प्रदेश में 69 प्रतिशत काम पूरा किया जा चुका है। देश के कई राज्यों में शिक्षकों के पद भरने का काम 95 फीसदी प्रतिशत से भी अधिक पूरा हो चुका है।

गुजरात में 2013-14 में 58 हजार शिक्षकों के पदों को भरने का लक्ष्य था जबकि 30 सितंबर 2013 तक 31 हजार पदों को ही भरा जा सकता है।

हर तीसरा बच्चा कुपोषित

'सेव द चिल्ड्रन' की नवीन रपट के अनुसार एक हजार जीवित जन्मे बच्चों में से 7 दिन के अंदर मर जाने वाले बच्चों की संख्या गुजरात में केरल, तामिलनाडु, दिल्ली, महाराष्ट्र, पंजाब, बंगाल और कर्नाटक राज्य से अधिक है। इंटीग्रेटेड चाइल्ड डेवलपमेंट सर्विसेज के 2007 से 2012 के आंकड़ों के अनुसार गुजरात में 3 वर्ष में कम आयु के 7,50,000 बच्चे और 3-5 वर्ष आयु के 5,10,000 बच्चे कुपोषित हैं। इसके अलावा गुजरात में 3 वर्ष से कम आयु के 61,000 बच्चे और 3-5 वर्ष आयु के 29,000 बच्चे अति कुपोषित बच्चों की श्रेणी में आते हैं।

नियंत्रक एवं महलेखा परीक्षक (कैग) की 4 अक्टूबर 2013 की रिपोर्ट के अनुसार गुजरात में 0 से 5 वर्ष के बीच का हर तीसरा बच्चा कुपोषित है। इसमें आदिवासी बच्चे सर्वाधिक कुपोषित हैं। गुजरात में कुल शिशु मृत्युदर अभी भी 41 प्रति हजार है। यह गुजरात सरकार की अराजक नीतियों और व्यवस्था का फल है।

बच्चों में कुपोषण की तरह महिलाओं और पुरुषों की जीवन प्रत्याशा भी गुजरात में हरियाणा, महाराष्ट्र और तामिलनाडु से काफी कम है। कृषि में व्यवसायिक फसलों को प्राथमिकता देने के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में पौष्टिक भोजन का संकट बन गया है।

जमीन पर कंपनियों का बढ़ता कब्जा

गुजरात के कृषि प्रदर्शन में एक बड़ी भूमिका व्यापारिक फसलों (बीटी कपास, मूंगफली और कुछ तिलहनों) की रही है। गुजरात में खाद्य पदार्थों के स्थान पर नकदी फसलों के उत्पादन में अधिक विकास दर रही है। इसके कारण प्रदेश में कृषि का विकास तो हुआ है, कृषकों का नहीं। उद्योगों एवं आधारभूत संरचना के लिए भूमि अधिग्रहण के फलस्वरूप राज्य में किसानों के हाथ से जमीन निकलती जा रही है। पिछले कुछ सालों से बड़े उद्योगों के



लिए बड़े पैमाने पर जमीन देने का सिलसिला चल पड़ा है। किसानों, पशुपालकों, मछुआरों व स्थानीय लोगों के विरोध को नजरअंदाज कर दिया जाता है। कुछ उदाहरण हैं— कच्छ के मुंद्रा तालुका में 14 गांवों की 3111 हेक्टेयर भूमि मुद्रा बंदरगाह एवं सेज के लिए, भरूच जिले के व्याग्रा तालुका में 1812 हेक्टेयर भूमि दाहेज सेज के लिए, जामनगर जिले के लालपुर तालुका में 5 गांवों की 4500 हेक्टेयर भूमि रिलायंस सेज के लिए, भावनगर जिले के मिठीविरदी स्थान पर 7 गांवों को प्रभावित करने वाली परमाणु बिजली परियोजना, निरमा सीमेंट कारखाना आदि।

पानी भी कंपनियों को

नरेंद्र मोदी सरदार सरोवर परियोजना को गुजरात की जीवन रेखा बताते हैं और कहते हैं कि गुजरात के सूखे और पेयजल का संकट इसी से दूर होगा। लेकिन सच्चाई यह है कि मोदी सरकार ने सिंचाई के लाभ क्षेत्र से चार लाख हेक्टेयर क्षेत्र हटाकर उसे कंपनियों के लिए आरक्षित कर लिया है। गुजरात सरकार ने सूखा ग्रस्त कच्छ को पर्याप्त पानी न देकर गांधीनगर, अहमदाबाद और बड़ोदा जैसे शहरों और औद्योगिक क्षेत्रों को भरपूर पानी उलब्ध कराया है। सरदार सरोवर परियोजना की नहरों का निर्माण भी आधे से अधिक छोड़ दिया गया है। गुजरात में इससे प्रस्तावित सिंचित क्षेत्र का 35 फीसदी ही सिंचित हो पाया है।

भारी प्रदूषण

गुजरात के विकास की कहानी उसके प्रदूषण की काली सच्चाई को कहीं पीछे आवरण में छुपा देती है। कई वर्ष पूर्व गुजरात में प्रदूषण की भयावहता का पता चल चुका था। यहां सभी नियमों एवं कानूनों को ताक पर रखकर औद्योगीकरण किया जा रहा है। केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण मंडल ने वर्ष 2013 में जारी रपट में कहा है कि देश के 29 प्रतिशत औद्योगिक कचरे के साथ गुजरात सबसे ज्यादा प्रदूषित राज्य है। यूरोप व अमरीका से बाहर किए गए कई रासायनिक कारखाने यहां स्थापित किए गए हैं। इन कारखानों से प्रदूषित पानी के कारण सब्जियों में भारी धातुओं की उपस्थिति पाई गई है। रासायनिक कारखानों की अधिकता के कारण पर्यावरणविद् गुजरात को 'रासायनिक बम' पर टिका हुआ राज्य मानते हैं। कुछ साल पहले दुनिया के दस सबसे प्रदूषित शहरों की सूची निकली थी, तो उनमें गुजरात का वापी भी शामिल था।

सरकारी आंकड़ों के अनुसार राज्य में 9000 उद्योग

जल एवं वायु प्रदूषण फैलाते हैं। इनमें लगभग 2,500 रासायनिक उद्योग हैं। उत्तरी गुजरात के छत्रल से वापी तक फैला क्षेत्र काफी खतरनाक माना गया है। इस क्षेत्र में आने वाले अन्य शहर अहमदाबाद, आणंद, बड़ोदा, अंकलेश्वर, हजीरा, सूरत एवं वलसाड हैं। अहमदाबाद के नरोड़ा में स्थिति अम्ल का कारखाना भी खतरनाक उद्योगों की श्रेणी में है। इनमें से कई कारखानों में प्रतिबंधित रसायनों का उपयोग होता है। भावनगर के पास अलंग समुद्रतट पर पुराने कबाड़ जहाजों को तोड़ने का दुनिया का सबसे बड़ा यार्ड है जो भारी प्रदूषण फैलाता है और मजदूरों की सेहत के लिए भी खतरनाक है। इसीलिए दुनिया के अमीर देश अपने यहां इसकी इजाजत नहीं देते और पुराने जहाजों को गुजरात भेज देते हैं।

याराना पूंजीवाद के साथ संप्रदायवाद

अंत में, एक सवाल रह जाता है। यदि नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में गुजरात का विकास मुख्य रूप से देशी-विदेशी पूंजीपतियों का, के लिए, के द्वारा हो रहा है तो फिर गुजरात की आम जनता का समर्थन उसे कैसे मिल रहा है? इसका जवाब 2002 की घटनाओं से जुड़ा है। इस विकास को वैधता प्रदान करने के लिए मोदी ने हिंदू सांप्रदायिकता का सहारा लिया है। जब सांप्रदायिक माहौल बन जाता है और कट्टर विद्वेष की भावनाएं भड़कती हैं तो बहुत सारी दूसरी चीजें ओझल हो जाती हैं। एक के बाद एक कई फर्जी मुठभेड़ें भी इसी खेल का एक हिस्सा हैं। एक तरह से मोदी के गुजरात में आर्थिक उदारीकरण और धार्मिक-सामाजिक-राजनैतिक अनुदारवाद के एक-दूसरे को पुष्ट करने वाले मेल का प्रयोग हो रहा है। 'याराना पूंजीवाद' के साथ 'याराना संप्रदायवाद' का एक घालमेल ही गुजरात मॉडल की असली बात है। देश को इसे समझने और इससे सावधान रहने की जरूरत है।

गुजरात का विकास मॉडल गैस से फूले एक गुब्बारे की तरह है जो गुजरात का विज्ञापन देश के आकाश में कर रहा है। यह गुब्बारा गुजरात के आकाश में मुसलिम विरोधी वोट का एकीकरण करने में सफल रहा है। लेकिन भविष्य में इस गुब्बारे की हवा भी निकल सकती है। इस संदर्भ में हम संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव कोफ़ी अन्नान का यह वक्तव्य नहीं भूल सकते—

'सभी मनुष्यों के विकास का अधिकार उनके प्रति हमारे आदर का एक पैमाना है। यही हम सब का लक्ष्य होना चाहिए।'

विकास पुरुष की सूक्तियां

सपनों का सौदागर या 'फेंकू' ?

○ नरेंद्र मोदी ने देहरादून में कहा कि उत्तराखंड की नदियों में इतनी ताकत है कि वे सारे देश की ऊर्जा जरूरतों को पूरा कर सकती है। इसमें अतिशयोक्ति तो है ही, पनबिजली और बांध निर्माण कंपनियों के स्वार्थ भी छिपे हैं।

○ नरेंद्र मोदी ने सौराष्ट्र के सौ से अधिक बांधों को नर्मदा के पानी से भरने की घोषणा की है। सच यह है कि कच्छ और सौराष्ट्र में कई उपनहरें अभी तक नहीं बनी हैं और सरदार सरोवर का पानी बड़ौदा व अहमदाबाद के उद्योगों व शहरों को काफी मात्रा में दिया जा रहा है।

○ विधानसभा चुनावों के दौरान मोदी ने कहा कि मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र को गुजरात सरदार सरोवर बांध से मुफ्त बिजली दे रहा है। यह सफेद झूठ है। सच्चाई यह है कि अंतरराज्यीय समझौते के मुताबिक बिजली निर्माण की पूंजी लागत का 57 फीसदी मध्य प्रदेश को और 27 फीसदी महाराष्ट्र को उठाना है। मध्यप्रदेश अभी तक 2065 करोड़ रु. लगा चुका है। मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र की विशाल भूमि, खेती व गांव डूबे हैं, वह अलग हैं।

○ जून 2005 में मोदी ने घोषणा की कि गुजरात राज्य पेट्रोलियम निगम ने 21 टीसीएफ (210 खरब घन फुट) गैस का भंडार खोज लिया गया है जो कि देश की सबसे बड़ी खोज है। जबकि खोजी गई गैस की वास्तविक मात्रा 2 टीसीएफ (20 खरब घन फुट) ही थी। करीब 12,000 करोड़ रुपए खर्च करने के बाद अभी तक उसमें से 1 घनफुट गैस भी नहीं निकली है।

○ पूना में विद्यार्थियों और शिक्षकों की सभा में मोदी ने कहा कि भारत में शिक्षा पर राष्ट्रीय आय की 4 फीसदी से कम राशि खर्च की जाती है, जबकि चीन में 14 फीसदी राशि खर्च की जाती है। वास्तविकता यह है कि चीन में कुल राष्ट्रीय आय का 4 फीसदी ही शिक्षा पर खर्च किया जाता है।

○ पटना की जनसभा में मोदी ने बिहार की तारीफ करते हुए कहा कि बिहार में नालंदा और तक्षशिला जैसे शिक्षा के प्राचीन केंद्र रहे हैं। सच यह है कि तक्षशिला बिहार में नहीं, पाकिस्तान में है।

○ इसी सभा में मोदी ने चंद्रगुप्त मौर्य को गुप्त वंश का सम्राट बताया। सच यह है कि वे मौर्य वंश के पहले राजा थे।

○ एक मौके पर नरेंद्र मोदी ने नेहरू की आलोचना करते हुए कहा कि वे सरदार पटेल की अंत्येष्टि में शरीक नहीं हुए थे।

जब नेहरू के शरीक होने के फोटो जारी कर दिए गए तो मोदी के पास जवाब नहीं था।

○ जून 2012 में वाल स्ट्रीट जर्नल को नरेंद्र मोदी ने बताया कि गुजरात में कुपोषण के आंकड़े इसलिए ज्यादा हैं क्योंकि लड़कियां फिगर कांशस हैं (पतली दिखना चाहती हैं)। जबकि जिन आंकड़ों की बात हो रही थी, वे पांच साल से छोटे बच्चों के हैं।

○ 2007 में मोदी के भाषणों की एक किताब 'कर्मयोग' प्रकाशित हुई, जिसमें मल ढोने को उचित बताया हुआ कहा गया कि इंसान के मल को साफ करना तो एक 'आध्यात्मिक अनुभव' होता है। जब इस अपमान का दलितों ने विरोध किया और मोदी के पुतले जलाए तो मोदी ने बात बदलते हुए कहा कि जैसे पुजारी मंदिर को साफ करता है, वैसे आप लोग शहर को मंदिर की तरह साफ करते हैं।

○ रायटर्स समाचार एजेंसी को दिए गए साक्षात्कार में मोदी ने गुजरात में मुसलमानों के नरसंहार में अपनी जिम्मेदारी को नकारते हुए कहा कि यह वैसे ही था जैसे कोई कुत्ते का पिल्ला अचानक आपकी कार के पहिए के नीचे आ जाए।

मुद्दा यह नहीं है कि नरेंद्र मोदी ज्यादा पढ़े-लिखे नहीं हैं और इतिहास या भूगोल का उनका ज्ञान सीमित है। बात यह है कि जिस बात का ज्ञान नहीं है तो वे उसे बोलते क्यों हैं? मुद्दा यह भी है कि बड़ी आसानी से वे झूठ या अर्धसत्य बोलते हैं, तथ्यों व आंकड़ों को बढ़ा-चढ़ा कर पेश करते हैं, गंभीर कमियों व समस्याओं को स्वीकार करने के बजाय उनका हास्यास्पद कारण बताते हैं। इसलिए इंटरनेट पर नरेंद्र मोदी का नाम 'फेंकू' पड़ गया है। जिसकी जवान का भी ठिकाना नहीं है, क्या ऐसा व्यक्ति देश का प्रधानमंत्री बनने लायक है?



भविष्य में छलांग

राजकिशोर

नरेंद्र मोदी!

मोदी एक
ढपोरशंख हैं,
लेकिन उनकी
कठोर छवि जनता
को आकर्षित कर
रही है। राहुल या
मोदी ने कोई नया
आर्थिक कार्यक्रम
देश के सामने पेश
नहीं किया है।
'आप' एक
चिंगारी है लेकिन
उसकी सबसे बड़ी
अग्निपरीक्षा है
उसका अर्थशास्त्र।
समाजवादियों को
अपना झंडा फिर
से उठाना होगा।

राजकिशोर हिंदी के वरिष्ठ
पत्रकार और लेखक हैं।
उनके द्वारा
संपादित 'आज के प्रश्न'
किताबों की श्रृंखला
काफी सराही गई है।

पता:

51, इंडियन एक्सप्रेस
अपार्टमेंट, मयूरकुंज,
दिल्ली-110096

फोन:

09650101266
truthonly
@gmail.com

एक ऐसा नेता, जिसे आधा भारत
समाधान मानता है और आधा भारत समस्या।
हो सकता है, यह अनुपात पचास-पचास का न
हो, पर मोदी को ले कर एक बड़ा विभाजन
अवश्य दिखाई देता है। अरसे बाद हमारे सामने
एक ऐसा नेता है, जो अपनी पार्टी से इतना
अलग और इतना बड़ा नजर आता है।

दरअसल, यह परंपरा देश के आजाद
होने के बाद ही शुरू हो गई थी। महात्मा गांधी,
सरदार पटेल और जवाहरलाल नेहरू - इन
तीन बड़े नेताओं ने स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान
कांग्रेस का नेतृत्व किया था। उन दिनों कांग्रेस
लगभग पूरे देश का नेतृत्व कर रही थी। 1948
शुरू होते ही गांधी जी की हत्या कर दी गई।
गांधी जी ने अपने सहयोगियों से कहा था, मेरी
हत्या कोई मुसलमान नहीं, हिंदू करेगा। स्पष्ट है
कि वे हिंदू समाज के द्वंद्वों को समझ रहे थे। यह
समझ सही निकली। उनका हत्यारा राष्ट्रीय
स्वयंसेवक संघ का नहीं, हिंदू महासभा का
सदस्य था। दोनों संगठनों की वैचारिक पृष्ठभूमि
एक थी, पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ मजबूत
निकला - हिंदू महासभा भी सांप्रदायिक थी,
पर उसके पीछे सिर्फ भावना थी, कोई ठोस
दर्शन नहीं। संघ के पास एक पूरा आख्यान था,
जिसमें सिर्फ मुसलमानों के मुकाबले हिंदुओं
को तरजीह देने की बात नहीं थी, अपनी परिभाषा
का हिंदू राज्य बनाने की वांछ थी - जिसमें
'मुसलमानों, कम्युनिस्टों और ईसाइयों' के लिए
कोई जगह नहीं होगी। संघ को आधुनिक विज्ञान
की तकनीकी उपलब्धियां स्वीकार थीं - यह
आकस्मिक नहीं था कि अटलबिहारी वाजपेयी
ने प्रधानमंत्री बनते ही परमाणु बम का परीक्षण

किया - परंतु आधुनिक विचार का संपूर्ण
तिरस्कार था।

महात्मा जी के जाने के बाद कांग्रेस में
दो बड़े नेता बचे - पटेल और नेहरू। पटेल
को मुस्लिम-विरोधी और तानाशाह कह कर
बदनाम कर दिया गया, जिससे उनकी प्रतिष्ठा
धूमिल हुई, फिर जल्दी ही उनका देहांत (1950)
भी हो गया। अब कांग्रेस पर यानी देश पर नेहरू
का एकछत्र राज हो गया। कम्युनिस्ट भी उनकी
तारीफ करते थे। नेहरू को आधुनिक और
लोकतांत्रिक माना जाता था, मगर वे भारत के
पहले बड़े तानाशाह साबित हुए। उन्हें 'सेकुलर
मोदी' कहा जा सकता है। आंबेडकर दलित
समाज के नेता नहीं, ईश्वर थे, पर उनमें किसी
पर हावी होने की प्रवृत्ति नहीं थी। वे हावी होते
भी तो किस पर - उस दलित समाज पर जो
उपमानव का जीवन जी रहा था?

बाद में इंदिरा गांधी ने भी लोकतांत्रिक
तानाशाही को न केवल जिंदा रखा, बल्कि हष्ट-
पुष्ट किया, लेकिन उनके इर्द-गिर्द वह वैचारिक
आभा नहीं थी जिसका लाभ नेहरू को मिला
था। तब तक आंचलिक दल उभरने लगे थे
और केरल और पश्चिम बंगाल में कम्युनिस्ट
कायम हो चुके थे, इसलिए इंदिरा गांधी का
प्रभाव सीमित रहा। मोरारजी देसाई का तो और
भी सीमित था। विपक्ष में अटल बिहारी वाजपेयी
(खोखले) और राममनोहर लोहिया (ठोस) जैसे
नेता थे, पर इन्हें जनता ने बड़े पैमाने पर स्वीकार
नहीं किया। इसका कारण यह था कि वाजपेयी
के पास विचार नाम की कोई चीज नहीं थी
और लोहिया के पास विचार ही विचार थे -
ऐसे विचार जो भारतीय समाज को सर्जनात्मक
धक्का पहुंचाने वाले थे।

नरेंद्र मोदी को इसी पृष्ठभूमि में देखने

की जरूरत हैं। भाजपा ने जब तक उन्हें प्रधानमंत्री पद का उम्मीदवार नहीं बनाया था, वे एक मुख्यमंत्री भर थे, जिसकी गुजरात के बाहर निंदा जरूर होती थी, पर प्रशंसक कोई नहीं था। उनकी पार्टी भाजपा समझ रही थी कि वह लोक सभा चुनाव में एक बड़ी मछली को उतार रही है, पर यह तो शार्क निकली। पूरी भाजपा मोदी के सामने बौनी नजर आ रही है - उचक कर भी वह मोदी को छू नहीं सकती। आडवाणी उचके थे, पर जमीन पर आ



गिरे। सब से बड़ी बात यह है कि मोदी भाजपा के भी प्रतिनिधि नहीं लगते। उनकी कृपा है कि वे अपनी जन सभाओं में कभी-कभी भाजपा का नाम ले लेते हैं। इसलिए मोदी से सब से ज्यादा डर भाजपा को ही होना चाहिए। वह शेर की सवारी कर रही है।

डर भारत को भी है, मतलब उन बुद्धिजीवियों को, जो लोकतंत्र का क ख ग जानते हैं या जिनका रुझान (निष्ठा नहीं) समाजवादी सत्तों की ओर है। इनमें कम्युनिस्ट और माओवादी हैं, लिबरल विचार के पढ़े-लिखे लोग हैं और गांवों तथा कस्बों के वे भलेमानुस हैं जो दंगा-फसाद नहीं चाहते। यहां मैं अपने मन में छुपी हुई एक बात बताना चाहता हूं। मेरा खयाल है, उत्तर भारत के सभी हिंदुओं में मुसलमानों के प्रति कम-ज्यादा तिरस्कार की भावना है - यद्यपि वह घृणा की सीमा तक नहीं जाती। लेकिन सिर्फ मुसलमानों को दबाने के लिए वे मोदी को वोट नहीं देंगे। वे वोट देंगे तो इसलिए कि-(1) मोदी वे सारे सवाल उठा रहे हैं जो 1947 के बाद से अनुत्तरित रहे हैं, जब कि दूसरा कोई भी ऐसा नहीं कर रहा है। यह जरूर है कि वे सवाल तो अकसर सही उठा रहे हैं, पर उत्तर या तो गलत दे रहे हैं या कोई उत्तर देते ही नहीं। (2) वे एक कठोर शासक जान पड़ रहे हैं (प्रत्येक देश की जनता कठोर शासक का इंतजार करती है, क्योंकि लोकतंत्र में उसके जैसी चुस्ती आ ही नहीं सकती, भारत का लोकतंत्र तो और भी पोला तथा नम्य है)। (3) कांग्रेस के शासन से सभी लोग दुखी हैं। सच तो यह है कि बारह साल से भारत में कोई शासक ही नहीं है। मनमोहन सिंह नाम के एक सज्जन, जिन्हें भ्रांतिवश अर्थशास्त्री मान लिया गया है, सोनिया गांधी की अटैची ढो रहे हैं और जिनमें अपने बल पर प्रधानमंत्री बनने की न तो चाह है और न क्षमता। इतने लंबे अरसे में उनका एक ही वाक्य अच्छ

लगा है - पैसे पेड़ पर नहीं उगते। काश, अमीरों और नव-अमीरों की अनाप-शनाप बढ़ती दौलत देख कर उनके मन में यह प्रश्न खड़ा होता- क्या इन्होंने पैसों का पेड़ लगा रखा है? (4) मोदी के भाषण जनता को सम्मोहित करनेवाले हैं, भले ही उनमें तथ्यगत विसंगतियों, बेधड़क झूठ, बड़बोलेपन और आत्मस्फीति के विंध्याचल हों, और (5) वे समाज के सभी वर्गों को स्वर्ग का नागरिक बनाने का आश्वासन दे रहे हैं, हालांकि उनके पास

उस स्वर्ग का दरवाजा खोलने की चाबी तक नहीं हैं। इसीलिए वे सिर्फ सुनहले भारत की चर्चा करते हैं, पर उसकी कोई तसवीर पेश नहीं करते, ताकि गरीब किसान, मजदूर, दलित, मुसलमान और बेरोजगार लोग खोज सकें कि इस तसवीर में उनकी जगह कहां हैं या है भी कि नहीं। भारत की जनता ने अनेक ढपोरशंख देखे हैं, फिर भी नए ढपोरशंख को पहचानने में उसे काफी समय लग जाता है।

राहुल गांधी!

एक ऐसा युवक, जिसे पेज श्री के व्यक्तित्वों को साथ हिलना-मिलना चाहिए, साल के छह महीने विदेश रहना चाहिए और हिप्पियों के बीच जा कर जिंदगी का मजा लेना चाहिए, पर जो मजबूरी में राजनीति में आ पड़ा है। मुझे उन पर तरस आती है। उन्होंने बहुत दिनों तक राजनीति और शासन से बचने की कोशिश की - तभी तो मनमोहन सिंह के लिए बित्ता भर जमीन बनी, लेकिन अंततः उन्हें फैमिली बिजनेस में उतरना ही पड़ा। यह जबरदस्ती राहुल के चेहरे पर मक्खी की तरह भनभनाती रहती है। और जो भी लगे, वे राजनीतिज्ञ तो नहीं लगते, न राजनीतिज्ञ की तरह आचरण करते हैं। उनकी बहन प्रियंका उनसे ज्यादा व्यावहारिक हैं और उनमें शायद कॉमनसेंस भी ज्यादा है, लेकिन हमारे समाज में बेटी की अपेक्षा बेटे को तरजीह देने की जो अक्षत परंपरा है, शायद उसी ने सोनिया गांधी को बाध्य किया होगा कि वे राहुल गांधी को अपना राजनीतिक उत्तराधिकारी बनाएं।

सोनिया गाँधी के साथ दो बातें हैं। राजीव गांधी से विवाह के पहले वे इटली में थीं। इटली और भारत में कई समानताएं हैं, फिर भी है वह पश्चिमी सभ्यता का हिस्सा। वहां की राजनीति में वंशवाद नहीं है। राजनीति ही नहीं,

सामान्य जीवन में भी सहज लोकतांत्रिकता है। लेकिन सोनिया की कार्य पद्धति में ये आधुनिक गुण कहीं दिखाई नहीं पड़ते। वे कांग्रेस को कांग्रेस की परंपरा की तरह ही चला रही हैं। अर्थात् एक पश्चिमी व्यक्ति के आने से भारत की राजनीति में कोई फर्क नहीं पड़ा। पश्चिम की शिक्षा-दीक्षा भी भारत आ कर पूरबी हो जाती है।

इंदिरा गांधी की हत्या के बाद जब राजीव गांधी को प्रधानमंत्री बनाने का प्रस्ताव आया, तब सोनिया ने आंसू-भरी आंखों से उन्हें मना किया था। राजीव भी गैर-राजनीतिक व्यक्ति थे। अगर वे पायलट की अपनी नौकरी करते रहते, तो आज वे जीवित होते, उनका जीवन सुखी होता। कोई उनकी हत्या करने का कार्यक्रम नहीं बनाता। अचरज की बात यह है कि अपनी सास और पति की हत्या देख चुकी सोनिया ने अपने बेटे राहुल को राजनीति में उतार दिया। लालच की अन्य किस्मों को आदमी संभाल भी लेता है, पर सत्ता के लालच से बचना कठिन होता है।

लेकिन वंशवाद को बनाए रखने के लिए कांग्रेस ही जिम्मेदार है - सोनिया गांधी नहीं। राजीव के बाद प्रधानमंत्री बने नरसिंह राव ने और चाहे जो अपराध किए हों, उन्होंने एक बड़ा काम किया - सोनिया को राजनीति से बाहर रखा। लेकिन कांग्रेस को यह नहीं जमा। जिसने पट्टे में बंध कर जिंदगी गुजारी हो, अचानक स्वतंत्र कर दिए जाने से जमीन पर उसके पांव सीधे नहीं पड़ते। चूंकि हमारे यहां देसी सत्ताधारी के खिलाफ विद्रोह की परंपरा नहीं है (दूसरे, विद्रोह के लिए जिस एकजुटता की जरूरत होती है, वह कांग्रेस में असंभव है, सभी एक-दूसरे से द्वेष करते हैं और खींचतानी में लगे रहते हैं), इसलिए प्रधानमंत्री के रूप में राव के अक्षम साबित हो जाने के बाद भी सभी शांत रहे। पर बाबरी मस्जिद के ध्वस्त हो जाने के बाद मानो कांग्रेस की बुनियाद ही हिल गई, क्योंकि धर्मनिरपेक्षता उसका आईडी है - तब भी थी और अब भी है। पार्टी में विद्रोह का वातावरण बन गया। ऐसा घमासान शुरू हुआ कि कांग्रेस को बचाने के लिए सभी गुटों को सोनिया गांधी के पास जाना पड़ गया। कांग्रेस का ऑक्सीजन नेहरू-गांधी के पास रहता है। वहीं ऐसा आदमी पैदा होता है, जिसकी अवज्ञा कोई भी कांग्रेसी नहीं कर सकता। जिस तरह पाकिस्तान एक नॉर्मल राज्य नहीं बन सकता, वैसे ही कांग्रेस भी कभी नॉर्मल



दल नहीं बन सकती। वह देश का नेतृत्व कर सकती है, पर अपने लिए अपने बीच से कोई नेता खड़ा नहीं कर सकती। कांग्रेस के वंशवाद की यह भी एक व्याख्या है।

दूसरी बात यह है कि सोनिया गांधी भी राजनीतिक व्यक्ति नहीं हैं। इसलिए उनके जन नेता होने का सवाल ही नहीं उठता। भारत की जरूरतों को वे बिलकुल नहीं समझतीं, न समझना चाहती हैं। हिंदी बोलना सीख लिया है, इसके लिए उन्हें बहुत-बहुत बधाई, पर उनमें भारत की आम जनता के साथ संवाद करने की इच्छा या क्षमता नहीं है। इस तरह, कहा जा सकता है कि वाजपेयी के छह वर्षों को छोड़ दिया जाए, तो लगभग पंद्रह वर्षों से कांग्रेस के शीर्ष पर कोई राजनीतिक व्यक्ति नहीं रहा है। कांग्रेस राज में देश की दुर्गति के लिए यह तथ्य भी जिम्मेदार है। जब राजनीति नहीं होगी, तब प्रत्येक समस्या खुद-ब-खुद और मजबूत होगी। इंदिरा गांधी ने अपने पिता की छत्रछाया में राजनीति देखी और सीखी थी। राजीव गांधी ने एक सामान्य और स्वस्थ नौजवान की तरह राजनीति की, राजनीति उनके लिए एक वायवीय चीज थी। तभी उन्होंने श्रीलंका में भारत की सेना भेजने की मर्मांतक भूल की और अपने पीछे बोफोर्स का भूत छोड़ गए। सोनिया गांधी को भी राजनीति में दिलचस्पी नहीं है, न वे दिलचस्पी लेना चाहती हैं। राहुल गांधी की मनोवृत्तियों को इस पृष्ठभूमि में समझने की कोशिश की जाएगी, तभी इसकी व्याख्या हो सकेगी कि वे इतने अ-राजनीतिक और मूडी क्यों हैं। या, उनका कोई राजनीतिक व्यक्तित्व क्यों नहीं बन सका।

2014 का लोक सभा चुनाव राहुल गांधी के लिए 'करो या मरो' साबित होगा। इधर कुछ महीनों से उन्होंने राजनीति में दिलचस्पी लेना शुरू कर दिया है और बीच-बीच में अपने रेडिकल विचार पेश करते रहते हैं। इनमें कुछ ताजगी भी होती है। उनकी समस्या यह है कि वे भारत के उस संपन्न युवा का प्रतिनिधित्व करते हैं जो देश को आधुनिक और साफ-सुथरा बनाना तो चाहता है, पर उसे देश की उन गंभीर समस्याओं का एहसास तक नहीं है जिनका समाधान निकाले बिना कोई वास्तविक प्रगति नहीं हो सकती। यह युवा वर्ग भी, अगर भाजपा ने उसका दिल नहीं चुरा लिया है, अ-राजनीतिक है। वह फल खाना चाहता है, किंतु पेड़ लगाना नहीं। इस तरह, राहुल

दो बड़े अभिशापों से ग्रस्त हैं - उनके नाजुक कंधों पर कांग्रेस की भारी विफलताओं का बोझ है और उनका व्यक्तित्व किसी भी तरह की आशा बंधाने में सक्षम नहीं है। यह सच भी है कि आम आदमी उन्हें बच्चा ही समझता है। यह बहस सिर्फ बुद्धिजीवियों के बीच है कि राहुल कितना कर पाएंगे कितना नहीं।

यह दिलचस्प है कि राहुल गांधी जिस स्वर्णिम भारत का ख्वाब देखते और दिखाते हैं, वह वही भारत है जिसे नरेंद्र मोदी अपना भारत बता कर बेच रहे हैं। वे भारत को आर्थिक महाशक्ति बनाना चाहते हैं, पर देश की साठ-सत्तर प्रतिशत आबादी का आर्थिक सशक्तीकरण किए बिना। जब समाजवादी व्यवस्था की ईंटें रखी जा रही थीं, तब भी गरीब आदमी का नंबर अंत में आता था और जब नई आर्थिक नीति को अपनाया गया तब भी गरीब को सिर्फ भीख दी जा रही है। तब समाजवाद में खोटा था और अब पूंजीवाद में खोटा है।

कॉंस की इस धारणा में दम है कि उत्पादन का ढांचा तब सिकुड़ने लगता है जब उसका फल व्यापक रूप से वितरित हो यानी उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति बनी या बढ़ती रहे। इसीलिए महामंदी के बाद पूंजीवादी अमेरिका का आर्थिक पुनर्निर्माण करने के लिए भारी मात्रा में सार्वजनिक निवेश किया गया और यह प्रयोग सफल रहा। भारत में भी आर्थिक उन्नति का फल आम जनता को नहीं मिल रहा है, क्योंकि आधुनिक सेक्टर में पैसा पैदा हो रहा है और उसी सेक्टर में खर्च भी हो रहा है। जिस राज्य में यह आधुनिक सेक्टर जितना कम है, वहां की आर्थिक हीनता और मानसिक दीनता उतनी ही अटल है। इसीलिए मनरेगा जैसे राहत कार्यक्रम बढ़ते जा रहे हैं।

गरीब को अगर आप गरीब ही रखते हैं, तो जन असंतोष को काबू में रखने के लिए और वोट लेने के लिए सस्ता अनाज, सस्ती बिजली, सस्ती खाद, सस्ती या मुफ्त चिकित्सा, मंगलसूत्र, टीवी सेट, लैपटॉप आदि का मुफ्त वितरण जैसे परोपकारी कार्यक्रम बनाने जा रहे हैं। यह न्याय नहीं है, अन्याय पर परदा डालने की रणनीति है। इस तालाब में इतना कम पानी है कि सूखे खेतों की सिंचाई नहीं हो सकती। अर्थात् इस तरह के खानगी कार्यक्रमों से सामान्य जन की क्रयशक्ति इतनी नहीं बढ़ती कि उत्पादन और वितरण की मौजूदा छकड़ा गाड़ी मोटरगाड़ी की रफतार से भाग



सके। कांग्रेस की तरह भाजपा भी इस गतिरोध को तोड़ना नहीं चाहती। इसलिए जब राहुल या मोदी विकास को प्रमुख मुद्दा बताते हैं, तो उससे कोई खनक पैदा नहीं होती। दोनों में से किसी ने भी देश के सामने कोई नया आर्थिक कार्यक्रम पेश नहीं किया है। इस स्थिति में, जिसका व्यक्तित्व जितना प्रभावशाली होगा, उसके समर्थन में उतने ही ज्यादा वोट पड़ेंगे। राहुल के पास कांग्रेस की मलिन विरासत है तो मोदी के पास लेबोरेटरी में तैयार किया गया इंद्रधनुष।

आम आदमी पार्टी!

आम आदमी पार्टी फिलहाल एक चिनगारी है। क्या वह शोला बन पाएगी? बन जाए तो अच्छा ही है। वह जैसी भी है, अन्य दलों से बेहतर है। लेकिन दिल्ली में प्रयोग करने के लिए इतना कम समय बचा है कि उसके सहारे देश के बाकी हिस्सों में कोई उल्लेखनीय प्रभाव पैदा करना असंभव लग रहा है। एक धारणा यह है कि खुद दिल्ली में अरविंद केजरीवाल के प्रशंसक प्रतिदिन कम हो रहे हैं। जनता तुरंत परिणाम चाहती है - वह किसी दीर्घकालीन कार्यक्रम के आशय समझना नहीं चाहती। केजरीवाल बिजली का बिल आधा कर देने और सब को शुद्ध पेय जल देने के अपने आश्वासन का पालन नहीं कर पाए हैं। डेढ़ महीने हो गए हैं, पर किसी भी भ्रष्ट या भ्रष्टतर को जेल नहीं भेजा गया है। ऐसा कोई आश्वासन बनते हुए भी दिखाई नहीं पड़ रहा है।

फिर भी यह अविवाद्य है कि आम आदमी पार्टी देश भर में लोकप्रिय हो रही है और उसकी सदस्य संख्या बढ़ती जा रही है। ये सदस्य किस प्रकार के हैं? किसी ने मिस्ट्र कॉल दिया है, किसी ने एसएमएस भेजा है, कुछ ने फार्म भर कर भिजवाए हैं। इन्हें ज्यादा से ज्यादा एक आधुनिक युद्ध में पैदल सेना कहा जा सकता है। लेकिन किसी भी आंदोलन में पैदल सेना की

भूमिका अहम हुआ करती है। स्वाधीनता संघर्ष में शामिल अधिकांश जनता इसी वर्ग की थी। परंतु यह उस तरह का आंदोलन नहीं है। भ्रष्टाचार-मुक्त भारत की कल्पना दिल्ली में रहनेवालों को सम्मोहित कर सकती है, क्योंकि वे रोज सुबह भ्रष्टाचार का कोई न कोई किस्सा पढ़ने के आदी हो चुके हैं और अपने चारों ओर अदृश्य कमाइयों पर टिकी संपन्नता देख कुदृते रहते हैं, पर देश के अन्य हिस्से भी इसी तीव्रता से आंदोलित होंगे, यह दावा करना कठिन है।

फिर, स्वाधीनता संघर्ष सिर्फ गांधी के सहारे नहीं लड़ा गया था- नेहरू, पटेल, राजेंद्र प्रसाद, राजाजी, आजाद जैसे कद्दावर नेता भी थे। प्रत्येक राज्य में नेतृत्व करनेवाली एक सक्षम टोली होती थी। आम आदमी पार्टी के आसमान में एक ही सितारा दिखाई दे रहा है। जन लोकपाल के लिए अन्ना हजारे के नेतृत्व से ही उनकी प्रसिद्धि हुई है और उनकी चुनावी जीत में अन्ना के आंदोलन की भूमिका कम नहीं है। दिल्ली विधानसभा चुनाव में लोगों ने उम्मीदवार नहीं देखे, बहुतों को तो पता भी नहीं था कि उनके क्षेत्र में आम आदमी पार्टी का उम्मीदवार कौन है या क्या है, उन्होंने सिर्फ अरविंद केजरीवाल के नाम पर वोट दिया। क्या अप्रैल-मई तक अरविंद ऐसे राष्ट्रीय नेता बन सकेंगे, जिसका छोटा-बड़ा क्लोन हर लोकसभा क्षेत्र में दिखाई पड़े? मेरे खयाल से, इसकी उम्मीद करना जरूरत से ज्यादा आशावाद है।

दरअसल, अरविंद केजरीवाल की कई अग्नि-परीक्षाएं बाकी हैं। उनकी सब से बड़ी अग्नि-परीक्षा है उनका अर्थशास्त्र। बिजली की दर आधी कर दूंगा, प्रत्येक परिवार को छह-सात सौ लीटर पानी उपलब्ध कराऊंगा, अनधिकृत कॉलोनियों को नियमित करा दूंगा आदि वादे दिल्ली को मोहित कर सकते हैं, पर करोड़ों वंचित तथा अभावग्रस्त स्त्री-पुरुषों को नहीं। अरविंद स्वशासन और विकेंद्रीकरण की बात करते हैं - यह बहुत अच्छा है, किंतु कृषि, उद्योग, मुद्रा स्फूर्ति, महंगाई, बेरोजगारी आदि के साथ वे क्या करेंगे, यह स्पष्ट नहीं है। थोड़ा-बहुत जो स्पष्ट हो रहा है वह यह है कि उनके पास ऐसी कोई मौलिक अर्थनीति नहीं है, जिससे विषमता कम हो और प्रत्येक व्यक्ति की क्रय क्षमता इतनी बढ़े कि वह अपनी जिंदगी अपने अनुसार जी सके और उसे मनरेगा जैसे कार्यक्रम हास्यास्पद लगे और हर आदमी को एक कामचलाऊ भविष्य दिखाई पड़ने लगे। एक समग्र अर्थनीति के अभाव में कोई कुछ दिनों के लिए वीपी सिंह या ममता बनर्जी बन सकता है, पर कम से कम दस-पंद्रह सालों तक टिकनेवाला राष्ट्रीय नेता नहीं। भूखे पेट और खाली हाथ कोई आम आदमी कब तक आम आदमी पार्टी के कवि सम्मेलन में इरशाद-इरशाद कर सकता है?

तीसरा मोर्चा!

तीसरा मोर्चा के बारे में कुछ भी लिखना कलम की बेइज्जती और स्याही की बरबादी है। वह निर्गुण भगवान है, जिसकी सिर्फ कल्पना की जा सकती है, पर जिसके दर्शन

नहीं हो सकते। यह तय हो जाने के बाद ही, आंचलिक दलों का एक ढीला-ढाला गठबंधन बनाया जा रहा है, जिसकी न कोई दिशा है न जिसके पास कोई कार्यक्रम है। इसमें कुछ बदनाम नेता भी शामिल हैं। नीम पर करेला यह कि इनमें से हर एक, कम्युनिस्टों को छोड़ कर, प्रधानमंत्री बनने के लिए मरा जा रहा है। इस गठबंधन के लिए इतना कहना काफी है कि फुटकर कविताओं को जोड़ देने से महाकाव्य या प्रबंध काव्य नहीं बन जाता।

समाजवादी दल!

भारत में इस समय कोई समाजवादी दल नहीं है - सिवाय समाजवादी जन परिषद के। उसकी स्थिति पहले भी डांवाडोल थी और उसके अनेक कार्यकर्ताओं के आप पार्टी में चले जाने के परिणामस्वरूप और ज्यादा डांवाडोल हो गई है। सजप के संस्थापक नेता किशन पटनायक एक बड़े आदमी थे, उनकी बौद्धिकता का आदर उनके विरोधी भी करते थे, लेकिन उनमें संगठन शक्ति का ट्रेजिक अभाव था। लगभग बीस वर्षों के बाद भी सजप अभी बीज रूप में ही है। यही कारण है कि जहां लैटिन अमेरिका के देशों में समाजवादी प्रवृत्तिवाली क्रांतियां हो रही हैं, वहीं हम सिर्फ भ्रष्टाचार-मुक्त भारत की कल्पना से आह्लादित हैं।

दिल्ली के विधानसभा चुनाव में प्रेम सिंह नाम के एक प्राध्यापक ने, सोशलिस्ट पार्टी के मंच से, कई उम्मीदवार उतारे थे। किसी को भी पांच हजार से ज्यादा वोट नहीं मिले। सुरेंद्र मोहन की पत्नी मंजु मोहन भी समाजवादी मंच में नई जान फूंकने को आतुर हैं। लेकिन यह भी एक अत्यंत छोटा संगठन होगा। इसलिए एक बार फिर सोशलिस्ट एकता का नारा लगाना आवश्यक है। यह न हो सके, तो समाजवादी जन परिषद को एकला ही चलना होगा।

इसके लिए पैसा कहां से आएगा? इस बारे में मेरा मत यह रहा है कि कोई अच्छा काम शुरू किया जाए, तो उसके लिए पैसे की कमी नहीं पड़ती। कई विश्वविद्यालय तक सार्वजनिक चंदे से बने हैं, अस्पताल भी। आम आदमी पार्टी का उदाहरण सामने है। उसकी तनिक-सी ख्याति होते ही करोड़ों का चंदा जमा हो गया। अभी से तैयारी शुरू हो जाए, तो हो सकता है अगले लोक सभा चुनाव में सजप को एक-दो सीट मिल ही जाए। न भी मिले, तो देश में एक सैद्धांतिक बहस शुरू जरूर शुरू हो सकती है। इसके लिए मीडिया का उपयोग करना कठिन नहीं होगा। उसे रोज सनसनी की तलाश रहती है।

वामपंथ की बुनियादी भूल

सच्चिदानंद सिन्हा

पूरी दुनिया में वामपंथ ढलान पर है। कारण यह है कि आधुनिक औद्योगिकरण के समता विरोधी व प्रकृति विरोधी चरित्र को वह समझ नहीं पाया। पूंजीपति-मजदूर द्वंद्व में ही उलझा रहा और समाज के दूसरे अंतर्विरोधों को उसने महत्व नहीं दिया। औद्योगिक सभ्यता के बुनियादी विकल्प की तलाश व संघर्ष ही वामपंथ को फिर खड़ा कर सकेगा।

मुजफ्फरपुर के विश्वविभूति पुस्तकालय में 5 जनवरी 2014 को 'वर्तमान परिदृश्य और वामपंथ' पर दिया गया व्याख्यान। 'प्रभात खबर' से साभार।

सच्चिदानंद सिन्हा प्रखर समाजवादी चिंतक हैं। पता:

ग्राम/पोस्ट मजिका जिला मुजफ्फरपुर बिहार फोन:

07781914301

अभी वामपंथ के पराभव का समय सारे संसार में है। इसके लिए आत्ममंथन की जरूरत है। हम लोगों को सोचना है कि कहां गलती हुई है, क्या बुनियादी भूल रही हैं, जिसकी वजह से संसार भर में वामपंथ करीब-करीब खत्म होता चला जा रहा है। भारत में भी इसकी स्थिति खराब है।

वामपंथ अपने आप में बहुत अस्पष्ट शब्द है। इसकी शुरुआत महज एक संयोग थी। फ्रांस की क्रांति के समय वहां की नेशनल एसेंबली में बाईं ओर जो लोग बैठे थे, वे ज्यादा क्रांतिकारी थे। उसी समय से यह प्रचलित हो गया कि जो लोग ज्यादा क्रांतिकारी होते हैं, वे वामपंथी होते हैं। बाद में मार्क्स जैसे लोग 19वीं शताब्दी के मध्य में राजनीति में उभरे, तो मुख्य रूप से ये लोग वामपंथ के साथ जुड़ गए। अब मोटा-मोटी कम्युनिस्ट व सोशलिस्ट ही वामपंथ के रूप में पहचाने जाते हैं। मैं इन्हीं पार्टियों के बारे में, खास कर कैसे इनके पराभव का सिलसिला शुरू हुआ, कैसे इनका उत्थान हुआ था, कैसे यह स्थिति बनी आदि कुछ बातें रखूंगा। उसके बाद यह भी चर्चा करूंगा कि कैसे यह स्थिति बदल सकती है।

लगभग सौ साल पहले, 1912 में सोशलिस्टों का एक अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन बेसल में हुआ था, उस समय यूरोप के अंदर संभावना बन रही थी कि युद्ध होगा। यूरोप के समाजवादियों ने तय किया था कि अगर युद्ध होगा तो वे अपने यहां के मजदूरों को उसमें उलझने नहीं देंगे। आंदोलन करके क्रांति करके इसको खत्म कर देंगे। लेकिन इसके बाद 1914 में जब युद्ध की शुरुआत हुई, तो बहुत कम ही सोशलिस्ट अपने वादे पर खरे उतरे। जर्मनी की रोजा लक्जमबर्ग व एक अन्य नेता ने युद्ध

का विरोध किया था। बाद में वे लोग इसी क्रम में मारे भी गए थे। रूस में लेनिन व बोलशेविक लोगों ने युद्ध का विरोध किया था। कहा था, साम्राज्यवादियों के मंसूबों को हम कामयाब नहीं होने देंगे। 1917 में रूस में क्रांति हुई।

क्रांति के बाद रूस में कम्युनिस्ट शासन आया। फिर यूरोप के कई देशों में भी क्रांति हुई। उस समय यह उम्मीद थी कि जर्मनी जैसे विकसित देशों में क्रांतिकारी उभार ज्यादा होगा, लेकिन वहां इसके बदले प्रतिक्रांतिकारी उभार हुआ। 1922 में सबसे पहले मुसोलिनी ने कॉरपोरेट स्टेट की बात की। कहा मजदूरों के हित को ध्यान में रखकर हम कॉरपोरेट स्टेट बनाएंगे। इसके दस साल बाद जर्मनी में हिटलर सत्ता में आया, तो यह उम्मीद की जाती थी कि जहां ज्यादा विकसित औद्योगिक समाज है, वहां पर क्रांति होगी और समाजवादी समाज बनेगा, लेकिन हुआ यह कि वहां फासिस्ट सरकारें बनी। खुद इंग्लैंड में जो लोकतंत्र का बड़ा अखाड़ा माना जाता था, वहां पर मोस्ले नाम के एक व्यक्ति ने फासिस्ट पार्टी बनाई, चुनाव लड़ा और जीत भी पाया।

इधर एशिया में, भारत में एक राष्ट्रीय उभार हुआ। साम्राज्यवाद के खिलाफ, चीन के अंदर 1919 के बाद एक सिलसिला शुरू हुआ और वहां पर राष्ट्रीयता की लड़ाई कम्युनिस्टों के नेतृत्व में सामाजिक क्रांति की दिशा में आगे बढ़ी और 1948 आते-आते वहां माओत्से तुंग के नेतृत्व में कम्युनिस्ट सत्ता कायम हो गई। वियतनाम में कम्युनिस्टों के नेतृत्व में आंदोलन हुआ। मलाया के अंदर कम्युनिस्टों के नेतृत्व में गुरिल्ला युद्ध हुआ। बर्मा के अंदर आंदोलन हुआ। हम कह सकते हैं, अगर यूरोप में क्रांति नहीं हुई तो एशिया के देशों में जो राष्ट्रीय

आंदोलन चले, उनमें कम्युनिस्टों ने भागीदारी की। इंडोनेशिया के अंदर सुकर्ण जब नेता के रूप में उभरे तो उस समय कम्युनिस्ट आंदोलन काफी आगे बढ़ा। इसके बाद एक स्थिति ऐसी आई कि वहां के जनरल सुहार्तो ने कम्युनिस्टों का काफी दमन किया, हजारों कम्युनिस्टों को मौत के घाट उतार दिया था।

वामपंथ का पराभव

20वीं शताब्दी के शुरु से लेकर उसके मध्य तक वामपंथ का हर जगह कुछ न कुछ उभार दिखाई देता है, लेकिन इसके बाद से हम देखते हैं कि हर जगह पराभव का सिलसिला चला। रूस में स्थितियां ऐसी बनती गई कि वहां पर लोकतांत्रिक समाजवाद की जगह पर तानाशाही आ गई। 20वीं शताब्दी का अंत होते-होते रूस के अंदर कम्युनिस्ट व्यवस्था ध्वस्त हो गई और पूंजीवाद की वापसी हो गई। चीन के अंदर बिना किसी महत्वपूर्ण परिवर्तन के 1960-70 के दशक में माओत्से तुंग ने कुछ कोशिश की जिसे सांस्कृतिक उत्थान के नाम से जाना जाता है। इस दौरान बड़ी छलांग लगाने की कोशिश हुई। समाज के अंदर गैरबराबरी को पाटने के लिए शहर के लोगों को

गांव की तरफ भेजा गया। कम्यून सिस्टम बनाया गया। इसके दस साल के अंदर ही एक दूसरे तरह की धारा चली और चीजें बदल गईं। आज बिना पार्टी का नाम बदले चीन दुनिया के सबसे शक्तिशाली पूंजीवादी राष्ट्र के रूप में उभरा है।

आज दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी आर्थिक शक्ति चीन है। लेकिन यह कम्युनिस्टों की शक्ति नहीं है। यह पूंजीवाद की शक्ति है। इंग्लैंड में दूसरे विश्व युद्ध के बाद पूंजीवाद के खिलाफ एक भावना उभरी थी, इसके बाद ही ब्रिटिश लेबर पार्टी सत्ता में आई थी। एनरन बेवान ने इंग्लैंड में स्वास्थ्य सेवाएं लागू की थी, जो उस समय दुनिया में एक उदाहरण बन गई थी। इससे समाज के हर तबके के व्यक्ति को स्वास्थ्य सेवाएं मिलने लगी थीं। लोगों को मुफ्त में दांत, आंख जैसे शरीर के अंग उपलब्ध कराए जाते थे, लेकिन

कुछ दिनों के बाद लेबर पार्टी का पराभव आया। 1979 में केजरवेटिव (अनुदार) पार्टी की मार्गरेट थैचर ने पूरी तरह से व्यवस्था को बदल दिया। थैचर के खिलाफ खदान में काम करने वाले लोगों की बड़ी हड़ताल चली। लगभग एक साल तक खदान मजदूर आंदोलन करते रहे, लेकिन थैचर ने उसे दबा दिया। एक तरह से लेबर आंदोलन को थैचर ने खत्म कर दिया। कुछ समय के लिए लेबर पार्टी के टोनी ब्लेयर की सरकार बनी, लेकिन फिर कंजरवेटिव पार्टी सरकार में आ गई है।

जर्मनी में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सोशल डेमोक्रेट आगे आए, लेकिन पिछले सालों में वे पीछे चले गए हैं। यूरोपियन यूनियन में जर्मनी की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अभी वहां सोशल डेमोक्रेट पार्टी के सहयोग से ही कंजरवेटिव एंजेला मर्केल की सरकार चल रही है। हर

हर जगह, जहां कभी वामपंथी उभार था, वहां पर कंजरवेटिव व अन्य लोग आगे बढ़ते जा रहे हैं। इसके कुछ निहितार्थ हैं। मुझे लगता है यह आकस्मिक नहीं है, सारे संसार में औद्योगीकरण के दौर में वामपंथ पीछे जा रहा है। जबकि कल्पना थी कि मजदूर वर्ग जहां सबसे ज्यादा शोषित होगा, वहां पर वह सत्ता को बदल देगा, लेकिन ऐसा हुआ नहीं। सब जगह पर कहीं फासिस्ट व कंजरवेटिव सत्ता में आ रहे हैं। यह बहुत चिंता की बात है।

जगह, जहां कभी वामपंथी उभार था, वहां पर कंजरवेटिव व अन्य लोग आगे बढ़ते जा रहे हैं। इसके कुछ निहितार्थ हैं। मुझे लगता है यह आकस्मिक नहीं है, सारे संसार में औद्योगीकरण के दौर में वामपंथ पीछे जा रहा है। जबकि कल्पना थी कि मजदूर वर्ग जहां सबसे ज्यादा शोषित होगा, वहां पर वह सत्ता को बदल देगा, लेकिन ऐसा हुआ नहीं। सब जगह

पर कहीं फासिस्ट व कंजरवेटिव सत्ता में आ रहे हैं। यह बहुत चिंता की बात है। इस पर देश की सभी कम्युनिस्ट पार्टियों को सोचने की जरूरत है। मुझे लगता है कि वे आत्मसंतुष्ट होकर बैठे हैं कि जो कुछ चल रहा है वह ठीक है, एक दिन हम जीतेंगे, कयामत का एक दिन आएगा और सब कुछ बदल जाएगा। मुझे लगता है, ऐसा कुछ नहीं है। हम सबको बैठकर सोचना चाहिए कि आखिर यह सब क्यों हुआ। कहीं कुछ बुनियादी भूल है क्या? हमें यह सोचना चाहिए, आखिर क्या वजह है, सब जगह समाजवादी आंदोलन पीछे क्यों चला जा रहा है?

औद्योगिक मजदूर सर्वहारा नहीं रहा

इस सब चीजों को देखकर मैं इस नतीजे पर पहुंचा

हूँ कि आधुनिक औद्योगिकरण का जो ढांचा है, वह बुनियादी तौर पर मानव और प्रकृति विरोधी है, इसके अंदर किसी भी समतामूलक या न्यायमूलक समाज की स्थापना नहीं हो सकती। मैं सोचता हूँ, तो इसके पीछे कुछ कारण हैं। समाजवादी अर्थशास्त्री इस चीज को पहले नहीं समझ सके। इसके पीछे मार्क्स के चिंतन का प्रभाव है। मार्क्स ने दुनिया के इतिहास की कल्पना यूरोपीय इतिहास के आधार पर की थी। समाज में अलग-अलग तरह की आर्थिक संरचनाएं होती हैं। उसमें वर्ग विभाजन होता है। अंततः पूंजीवादी व्यवस्था में वर्ग विभाजन खत्म हो जाएगा। पहले कहा गया था कि यूरोप के अंदर गुलामों की व्यवस्था थी। इसके बाद फ्यूडल सिस्टम (सामंती प्रणाली) आया। अंत में पूंजीवादी व्यवस्था आई है। इसमें जो अंतर्विरोध हैं, वह पूंजीपतियों व मजदूरों के बीच में है। मजदूरों को मार्क्स ने सर्वहारा (प्रोलेतारियत) कहा है,

जिसके पास अपनी जंजीरों के अलावा कुछ खोने को नहीं है। ऐसा मजदूर क्रांति करेगा ही। इससे व्यवस्था बदल जाएगी। हमें मार्क्स की इस सोच में कुछ बुनियादी खोट दिखाई देती है कि पूंजीवादी व्यवस्था में सर्वहारा सबसे गरीब और सबसे शोषित तबका है। अगर हम यूरोप

के विकसित औद्योगिक समाजों को देखेंगे तो पाएंगे कि वहां के मजदूरों के पास गंवाने के लिए जंजीर के अलावा और भी बहुत कुछ है। वहां के मजदूरों की आर्थिक स्थिति काफी सुधरी हुई है। अमरीका में जहां सबसे कठिन पूंजीवादी व्यवस्था है, वहां भी मजदूरों की आमदनी काफी है। हम यह कह सकते हैं कि हमारे यहां जो संपन्न लोग हैं, उन लोगों से भी ज्यादा अमरीका के मजदूरों की स्थिति सुदृढ़ है। यानी हम यह कह सकते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था में मजदूर हमेशा गरीब होता जाएगा, यह थ्योरी (सिद्धांत) गलत साबित हुई है।

बीच में समाजवादी नेता बर्नस्टाइन ने जब मध्यमवर्ग का उभार देखा, तब मार्क्स की थ्योरी से हटकर कहा था कि एक मध्यमवर्ग तैयार हो रहा है। उन्होंने मार्क्स के विचारों में संशोधन की बातें की थीं। उस समय के मार्क्सवादी नेताओं को बर्नस्टाइन की बात गाली जैसी लगी। सबने उनकी बात

को बकवास कहा, लेकिन हकीकत यही है कि जो सर्वहारा है, वास्तव में वह वैसा दरिद्र नहीं हुआ है। यूरोप का जो मजदूर वर्ग है, वह काफी संपन्न है। इसके अलावा एक और बात है। समाज का वैसा विभाजन भी नहीं हुआ, जैसा कि मजदूर और पूंजीपति के बीच होता है। प्रबंधन वर्ग का भी उदय यूरोप में हुआ है, जो बहुत शक्तिशाली है। अमरीका के वामपंथी विचारक चार्ल्स राइट मिल्स ने 'द पॉवर एलीट' नाम की किताब लिखी है। उसने किताब में लिखा है कि कैसे अमरीका के अंदर जो शक्ति है, वह सेना के बड़े अधिकारियों, आर्थिक विशेषज्ञों, टेक्नोक्रेट के पास है। इनका एक अलग समाज विकसित हो रहा है। इनका अलग इलीट वर्ग है। मैक्स वेबर बहुत बड़े समाजशास्त्री थे। उन्होंने लिखा- ऐसा नहीं है कि पूंजीपति व मजदूर आमने-सामने खड़े हैं, बल्कि इनके बीच में अधिकारियों का एक सीढ़ीनुमा

ढांचा है, जिनके पास अपार शक्ति है, जो यूरोपीय समाज व्यवस्था को कानून के मुताबिक चला रहा है। ये सब चीजें हैं। मेरे ख्याल से जो मार्क्सवादी चिंतक थे। उन लोगों ने इसको खारिज कर दिया। कभी भी इन चीजों के बारे में विचार नहीं किया।

सोवियत यूनियन के विघटन के पीछे बहुत बड़ा कारण यह था कि उस व्यवस्था को चलाने के लिए बहुत बड़ा नौकरशाही समूह आगे आ गया। खुद कम्युनिस्ट पार्टी के अंदर एक ऐसा समूह पैदा हो गया, जो जनता से बिल्कुल अलग होता गया। अंततः यह हुआ कि जनता में इतना असंतोष हुआ, दमन के बावजूद विद्रोह हुआ और व्यवस्था खत्म हो गई।

होता यह है कि जिन चीजों की आप बहुत अनदेखी करते हैं, कभी-कभी वे आप पर बहुत हावी हो जाती हैं, यह एक ट्रेंड (प्रवृत्ति) की तरह है। सोवियत यूनियन के विघटन के पीछे बहुत बड़ा कारण यह था कि उस व्यवस्था को चलाने के लिए बहुत बड़ा नौकरशाही समूह आगे आ गया। खुद कम्युनिस्ट पार्टी के अंदर एक ऐसा समूह पैदा हो गया, जो जनता से बिल्कुल अलग होता गया। अंततः यह हुआ कि जनता में इतना असंतोष हुआ, दमन के बावजूद विद्रोह हुआ और व्यवस्था खत्म हो गई। इन चीजों को समझने की जरूरत है। मार्क्स के करीबी सहयोगी फ्रेड्रिक एंगल्स ने अपने जीवन के अंतिम समय में एक पत्र लिखा था। उस पत्र से जाहिर है कि वे भी यह देख रहे थे कि इंग्लैंड जैसे देशों में मजदूरों की स्थिति में काफी सुधार हो रहा है। वह यह देख रहे थे कि उपनिवेशों से जो लूट होती है, वहां से जो धन आ रहा है, उसकी वजह से इंग्लैंड का

मजदूर वर्ग संपन्न होता जा रहा है और जो समाजवादी हैं वो उदारवादी बनते चले जा रहे हैं।

भारत व अफ्रीका जैसे उपनिवेशों से जो लूट का धन आता था, यूरोप का सर्वहारा (मजदूर वर्ग) भी उसमें हिस्सेदार था। इस हिस्सेदारी की वजह से जो क्रांतिकारिता होनी चाहिए थी, जिसकी कल्पना मार्क्स ने की थी, वो उनमें नहीं आई। इस तरह से कम्युनिस्ट व सोशलिस्ट आंदोलन का एक तरह से पराभव हुआ, लेकिन दूसरी शक्तियां उभर रही हैं। जो आजाद देश हैं, पूंजीवाद का सब जगह विकास हो रहा है। इन देशों में ऐसा क्यों हो रहा है और किस तरह के अंतर्विरोध सामने आ रहे हैं? जो कुछ हो रहा है उसका स्वरूप क्या है?

मार्क्स की भूल

मुझे लगता है कि मार्क्स ने जो पूंजी का अध्ययन किया था उसी में कुछ भूल थी। इसे उस समय नजरअंदाज किया गया, लेकिन हम लोगों को उसके ऊपर विचार करना चाहिए। जिन लोगों ने कम्युनिस्ट साहित्य का अध्ययन किया है, वे जानते होंगे कि मार्क्स का जो सबसे महत्वपूर्ण अध्ययन था, वह 'पूंजी' था। इसके अंदर उन्होंने यह बतलाने की कोशिश की थी कि कैसे समाज के अंदर उत्पादन पद्धति में मजदूर काम करता है। अगर वह आठ घंटे काम करता है, तो छह घंटे की कमाई आजीविका पर खर्च हो जाती है और जो दो घंटे की कमाई होती है, वो बेशी (सरप्लस) होता है, वही जमा होता है। उसी से पूंजीपतियों का मुनाफा होता है। यह किताब तीन खंडों में है, जिनमें बहुत गंभीरता से उस समय यूरोप के अंदर जिस तरह के बदलाव हो रहे थे, उनके बारे में लिखा गया है। मुझे लगता है कि इसमें एक बुनियादी भूल मार्क्स से हुई। उन्होंने कहा कि पूंजी का मजदूरों के श्रम के शोषण का संचित बेशी (सरप्लस) मूल्य है। वही पूंजी का आधार है। उन्होंने इस बात को नजरअंदाज कर दिया कि मजदूर जो श्रम लगाता है, वह शून्य में नहीं होता है। अगर वह कपड़ा बनाता है, तो उसके लिए कपास की जरूरत होती है। ऐसे ही अगर लकड़ी का कोई सामान बनाता है, तो उसके लिए लकड़ी की जरूरत होती है। मार्क्स ने इसमें यह किया कि अगर कपास से कपड़े तैयार होते हैं तो कपास तैयार करने में जो श्रम लगा वह और फिर कपड़ा तैयार करने में जो श्रम लगा वह, उसने इन दोनों को जोड़ दिया और इसे संचित मूल्य कहा। लेकिन इसके बीच में खुद कपास का भी तो मूल्य होता है। इसके बारे में मार्क्स ने

नहीं लिखा। अगर लोहा तैयार होता है, तो उसे तैयार करने में मजदूर ने श्रम किया, उसका मूल्य है। लेकिन खुद लौह अयस्क का मूल्य है या नहीं, इसे मार्क्स ने नजरअंदाज कर दिया। मार्क्स ने अर्थशास्त्र के अंदर इन सारी चीजों को रखने की कोशिश की थी। किसी भी अर्थशास्त्र के अंदर मांग, पूर्ति और विनिमय होता है। इसमें मार्क्स ने श्रम को जोड़ा। उसमें यह बताने की कोशिश की कि कैसे इसमें इजाफा होता है। कैसे शोषण होता है। कैसे जमा होते-होते पूंजी बनती है। लेकिन वह कच्चे माल का मूल्यांकन करना भूल गया। जब कच्चा कपास आता है, वह आपूर्ति का हिस्सा नहीं है, बल्कि कपास का एक पौधा होता है। इसके पीछे प्राकृतिक परिवेश होता है। इसी तरह लौह अयस्क भी है। यह सब कहां से आता है, इसका भी अध्ययन जरूरी है।

परिवेश पर हमला

इसके बारे में मार्क्स ने कभी सोचा नहीं, लेकिन हकीकत यही है कि कपास का पौधा जमीन में पैदा होता है। उसे खास तरीके का वातावरण चाहिए। पानी और खाद चाहिए। जंगल की लकड़ी भी एक परिवेश का हिस्सा है, आप जंगल काटते हैं। आज की जो औद्योगिक व्यवस्था है, उसमें प्राकृतिक संसाधनों का क्या हो रहा है, इस पर सब आंख बंद किए हुए हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि जितना ज्यादा औद्योगिक विकास होता गया है, परिवेश उसी के हिसाब से नष्ट होता चला गया है। इससे अलग-अलग मानव समूहों का आधार भी खत्म हो रहा है। जंगल में रहने वाले आदिवासी हैं, खेती करने वाले किसान हैं, इनका एक सामाजिक परिवेश होता है। आर्थिक ढांचा होता है। अगर आप जंगलों को काटते हैं, एक्सप्रेस-वे बनाते हैं, तो इससे लोगों का परिवेश नष्ट हो रहा है। जंगलों की कटाई होती है। बॉक्साइट की खुदाई होती है। इसमें लोगों के गांव उजाड़े जाते हैं। जब एक जगह औद्योगिक विकास होता है, तो उसके आसपास के जो गांव होते हैं उनका परिवेश नष्ट होता है। यह जो नष्ट होता हुआ परिवेश है, वह दूसरी तरह से अपना जमा-खर्च मांग रहा है। आज पर्यावरण का संकट इसी का परिणाम है। मांग-पूर्ति के हिसाब से पूरा आर्थिक ढांचा तैयार कर लिया गया है। इसमें छत्तीसगढ़ के कोयले और झारखंड के लौह अयस्क से इस्पात बन रहा है, लेकिन वहां के परिवेश का क्या होता है? इस प्रक्रिया में पुराना जितना सामाजिक ढांचा था, वह टूट गया है।

ऐसे ही आप पश्चिम एशिया में देखिए। तेल की

जरूरत है। अपनी जरूरत के लिए वहां की पारंपरिक व्यवस्था को नष्ट कर दिया गया। ईरान तो एक नमूना है, वहां पर कम्युनिस्ट आंदोलन काफी प्रभावकारी था। 1950 के आसपास वहां तूदेह पार्टी थी। मोसाददीक प्रधानमंत्री थे। शाह ईरान छोड़ कर भाग गया था। बाद में अमरीका ने सीआईए की मदद से शाह को वापस बिठाया। ऐसे में वहां की पारंपरिक व्यवस्था नष्ट हो गई। इसके बाद वहां इस्लामिक कट्टरपंथ हावी हो गया। कह सकते हैं कि पूंजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था के खिलाफ पहले कम्युनिस्ट थे। अब इस्लामिक कट्टरपंथ आया है। इसकी वजह है। वहां के लोगों को जब आगे की राह नहीं दिखाई दे रही थी, तो पुरानी मान्यताओं को पनाह दी। ईरान में ही नहीं पूरे पश्चिम एशिया में इस्लामी चरमपंथ हैं। भारत में भी इस्लामी चरमपंथ है। इसकी प्रतिक्रिया में हिंदू चरमपंथ है। जो सरल समाज था, वहीं सबसे शोषित वर्ग (प्रोलेतारियत) था। इसी के आधार पर समाज के अन्य वर्ग थे। ऐसे में जब सामाजिक ढांचा टूटा तो समाजवादी व

कम्युनिस्ट इसे समझ नहीं सके। बाद में डॉक्टर लोहिया ने इस पर काम किया है। जैसे कि जाति व्यवस्था। यह प्राचीन और शोषक व्यवस्था है। हालांकि कम्युनिस्ट पार्टी के लिए यह कभी बड़ी समस्या नहीं थी। उसके लिए

पूँजीपति व मजदूरों के बीच का वर्ग भेद ही मुख्य था। ऐसा माना जाता था कि जब यह खत्म हो जाएगा तो बाकी चीजें अपने आप बदल जाएंगी। लेकिन जो पुराना ढांचा टूटा, इसके बाद उसके अंतर्विरोध सामने आए। जाति समाज की एक समस्या थी। कबीर ने इस पर प्रहार किया। काफी परिवर्तन भी हुए। लेकिन कम्युनिस्टों ने इसकी अनदेखी की। नतीजा यह हुआ कि जो लोग जातियों के सवाल को तरजीह देते थे, वे आगे आ गए। समाजवादी पार्टी ही थी जिसने जाति का मुद्दा उठाया। डॉ. लोहिया ने उस समय दक्षिण में द्रमुक आंदोलन चल रहा था, उसके साथ संबंध बनाने की कोशिश की थी। 1952 के चुनाव में बाबा साहेब आंबेडकर के साथ सहयोग किया था। उस समय मैंने चुनाव में काम किया था। समाजवादी और आंबेडकर सम्मिलित रूप से चुनाव लड़े थे। लेकिन जो मूल वामपंथ था, उसके लिए यह कोई समस्या तब भी नहीं थी।

टूटा समाज

मौजूदा अर्थव्यवस्था का पैर जहां भी पसरा है। उन जगहों की व्यवस्था नष्ट हुई है। आज अफ्रीका का समाज तो पूरी तरह से खात्मे की ओर है। इसी का नतीजा है कि वहां आदिवासियों के बीच लड़ाइयां हो रही हैं। हजारों साल पुरानी वहां की संस्कृति है। वहां कबीलों में लोग बटे थे। आपस में संबंध बना कर रखते थे। लेकिन अब नाईजीरिया, दक्षिण सूडान जैसे देशों में युद्ध चल रहा है। बाहर की कंपनियों को वहां के संसाधनों से मतलब है। दक्षिण सूडान में भारत की तेल कंपनी काम कर रही थी, अभी जब वहां गृहयुद्ध शुरू हुआ तो कंपनी वहां से भागकर आई है। केन्या के अंदर हजारों एकड़ जमीन खरीद कर भारतीय कंपनियां वहां खेती कर रही हैं। पूंजीवादी विकास ने वहां जो मानवीय संबंध थे, उनको नष्ट कर डाला। एक आयाम आपके सामने था। वहां के संसाधनों को लूट करके औद्योगिक व्यवस्था

को विकसित करना। इसकी अनदेखी का नतीजा यह हुआ है कि वहां जो संघर्ष हो रहे हैं, उससे आप बाहर होते जा रहे हैं।

अभी उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव की पार्टी की जो सरकार आई है, उसकी एक बड़ी वजह

रही है कि उनके अतीत में डॉ लोहिया की विचारधारा रही है। जातीय उत्पीड़न के खिलाफ पिछड़ी जातियों को मुलायम सिंह ने गोलबंद किया। कम्युनिस्ट पार्टी के लोग पीछे रह गए। उन्होंने कुछ किया नहीं, जबकि वह एक बड़ी पार्टी थी। 1952 में कम्युनिस्ट वामपंथियों के बीच एक बड़ी पार्टी के रूप में उभरी थी, लेकिन क्या हो गया? आज केरल में भी वह खत्म होती जा रही है। पं. बंगाल में दशकों से चल रही उसकी सरकार खत्म हो गई।

बात यह है कि जिन समाजों को औद्योगीकरण ने नष्ट किया है, उनका जो ढांचा टूटा है, उससे जो खाई बनी है, जो सवाल उभरे हैं, उसके लिए कम्युनिस्टों के पास कोई रास्ता नहीं है। मेरी समझ में यह केवल भारत में नहीं, बल्कि सारे संसार में ऐसा ही हुआ है। एक अपवाद हम मानते हैं। अगर वामपंथ कुछ जीवित है तो लैटिन अमरीका में। हालांकि आज वहां जो लोग सत्ता में

हैं, वे स्पेनी और पुर्तगाली मूल के लोग हैं। लेकिन जिस तरह बाहरी शोषण का शिकार दूसरे समाज हुए हैं, उस तरह शिकार लैटिन अमरीका नहीं हुआ है। हालांकि शुरुआत वहीं से हुई थी। अगर हम औद्योगीकरण की बात करें तो ये देश अभी इसके पहले पायदान पर हैं। वेनेजुएला में पेट्रोल बहुत है। अभी वहां पर जो वामपंथी सरकार है, उसका ही उस पर नियंत्रण है। क्यूबा में कुछ अलग तरह से 1954-55 में जो क्रांति हुई। इसके बाद वहां जो बाहरी लोग थे वे चले गए। वहां की जमीनों पर वहां के लोगों का अधिकार है। हम कह सकते हैं, वहां अलग तरह की व्यवस्था है। वहां के लोग प्रकृति की ओर जा रहे हैं। पहले जहां हजार-हजार एकड़ के बड़े फार्म थे, उनमें मशीनों से काम होता था। क्रांति के बाद वहां की खास परिस्थितियों की वजह से फिर हल-बैल का जमाना आ गया है। शहरी घरों में छोटे-छोटे किचन गार्डन बने हैं। यह कुछ जगहों की बात है, लेकिन बाकी सारी दुनिया में औद्योगीकरण के नाम पर लूट हो रही है। कहीं पर बाहरी लोगों की ओर से, कहीं पर अपने ही लोगों द्वारा। भारत में तो अपने ही लोग लूट रहे हैं। प्राकृतिक संपदा लूट रहे हैं। सब चीजें खत्म कर रहे हैं। किसान आत्महत्या कर रहे हैं। तो एक बना बनाया वैचारिक ढांचा था कि मूल लड़ाई पूंजीपति और मजदूरों के बीच की है। मजदूरों का संगठन बनाओ और समाज को बदल दो। वो सारी चीजें नकारा साबित हुई हैं। इसका नतीजा है कि वामपंथ सारी जगह खत्म हो रहा है।

दो साल पहले मुजफ्फरपुर जिले में एस्बेस्टस के विरोध में आंदोलन चल रहा था। अरूण बाबू (सोशललिस्ट यूनिटी सेंटर के नेता) कह सकते थे कि किसानों की जमीन पर उद्योग लग रहा है। इलाके का औद्योगीकरण हो रहा है। इसे होने देना चाहिए। लेकिन इसके बजाय उन्होंने देखा कि किसानों की जिंदगी पर इसका कैसे असर पड़ेगा। उसके खिलाफ इन्होंने एक आंदोलन शुरू किया। अगर इस तरह के आंदोलन हर जगह हुए होते, तो हमें लगता है कि बहुत तरह के नकारात्मक परिवर्तन जो समाज में हुए हैं वे नहीं हुए होते। अभी तक हम लोग आंख बंद करके आधुनिक औद्योगीकरण के पीछे चलते रहे हैं। हम समझते हैं कि वास्तव में यही तरक्की है। लेकिन जो यहां की मूल संपदा है, मूल जीवन है, यहां का जलस्रोत है, उन सबको नष्ट किया जा रहा है। प्रकृति का नियम है कि आप शून्य से पैदा नहीं करते हैं।

औद्योगीकरण की समस्याएं

आप जीवित प्रकृति को नष्ट करके, निर्जीव इमारतें खड़ी कर रहे हैं। ऐसे में हमें विकास के बारे में सोचना होगा। आखिर विकास का क्या मतलब है? विकास का मतलब अभी यही है कि आप जंगलों का सफाया कर दें। वहां के रहनेवालों का जीवन नष्ट कर दें। आखिर शहरों के अंदर झुग्गी-बस्तियों में रहने वाले लोग कौन हैं? चाहे किसान विस्थापित होकर शहरों के स्लम में जाते हैं या आदिवासी विस्थापित हो करके। इन लोगों को योजना बनाकर हटाया जाता है। जब चाय की खेती शुरू हुई थी, तो झारखंड से ले जाकर आदिवासियों को बसाया गया था। आज बंगाल से लेकर असम तक के चाय बागान में वही लोग हैं। आज जो जीवित लोग हैं उन्हें एक सामान की तरह इस्तेमाल किया जा रहा है। इससे निर्जीवपन स्थापित हो रहा है। ऐसे में आप किस तरह की सभ्यता बना रहे हैं? मुझे लगता है, ये जो जीवन की कुछ मूल समस्याएं औद्योगीकरण से उभरी हैं, उनके बारे में हम सजग नहीं थे। उतनी समझदारी नहीं थी। इसी की वजह से सब जगह पर हम लोग नीचे जा रहे हैं। समाजवादी आंदोलन को इस भूल को सुधारने की जरूरत है। लोगों से जुड़ने की जरूरत है। इसी के जरिए हम लोग मानवीय समाज की स्थापना कर सकेंगे।

वार्ता शुल्क में मामूली वृद्धि

सामयिक वार्ता का वार्षिक शुल्क बढ़ाकर 150 रु. किया जा रहा है। लेकिन विद्यार्थियों के लिए और जो बढ़ा हुआ शुल्क देने में असमर्थ हैं उनके लिए, रियायती दर 100 रु. ही रखी गई। बाकी शुल्क दरों में कोई बदलाव नहीं किया गया है।

अब शुल्क दरें इस प्रकार हैं-

वार्षिक (व्यक्तिगत)	150 रु.
वार्षिक (संस्था)	200 रु.
वार्षिक (रियायती)	100 रु.
पांच वर्ष	600 रु.
आजीवन	2000 रु.

-प्रबंधक

भ्रष्टाचार विरोध का अर्थशास्त्र

अरुण कुमार

यदि भ्रष्टाचार विरोधी
आंदोलन बाजारपरस्त
और पूंजीपरस्त
नीतियों को नहीं
बदलेगा और
कालेधन की समांतर
अर्थव्यवस्था पर
अंकुश नहीं लगाएगा
तो आम आदमी को
कुल मिलाकर
नुकसान ही होगा।
अभी तक आम
आदमी पार्टी ने
इसके संकेत नहीं
दिए हैं। 'आप' के
समर्थक एक बड़े
अर्थशास्त्री की कलम
से चेतावनी भरा
लेख।

इस लेख का अंगरेजी से
अनुवाद राजेंद्र चौधरी ने
किया है।

अरुण कुमार
जवाहर लाल नेहरू
विश्वविद्यालय में
अर्थशास्त्र के प्रोफेसर
हैं। वे 'आप' द्वारा
गठित आर्थिक मामलों
की सलाहकार समिति के
अध्यक्ष थे।

पता:

1/2, उत्तराखंड,
जवाहरलाल नेहरू
विश्वविद्यालय, नई
दिल्ली 110067

फोन:

011-26742029

nuramarku
@gmail.com

आम आदमी पार्टी ने आने वाले आम चुनावों में सभी दलों के भ्रष्ट नेताओं के खिलाफ चुनाव लड़ने के अपने इरादे की घोषणा कर दी है। भ्रष्टाचार विरोध ही इसकी चुनावी मुहिम का मुख्य आधार प्रतीत होता है क्योंकि अभी तक इस के अलावा और कोई नीतिगत घोषणा नहीं की गई है। हाल ही में दिल्ली विधानसभा चुनावों में मिली सफलता काफी हद तक भ्रष्टाचार विरोध पर आधारित थी। मतदाताओं को सस्ता/निःशुल्क पानी और बिजली देने का वायदा भी इन सेवाओं में व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त करने पर आधारित था। ऐसे कुछ मुद्दों को छोड़ कर, देश-समाज के बारे में 'आप' की दृष्टि अभी तक स्पष्ट नहीं है। महंगाई और भ्रष्टाचार के खिलाफ मतदाताओं के क्रोध को देखते हुए दिल्ली में इतना सीमित एजेंडा पर्याप्त था। परन्तु क्या इतना ही सीमित एजेंडा राष्ट्रीय स्तर पर भी कारगर होगा?

एक बात तो है। अब अन्य राजनीतिक दल भी भ्रष्टाचार विरोधी रुख अपनाने को मजबूर हो गये हैं। जाहिर है, 'आप' देश के राजनीतिक विमर्श को बदलने में सफल रहा है। संसद में लोकपाल विधेयक का पारित होना, अन्य लंबित भ्रष्टाचार विरोधी बिल पास करने का वायदा और स्वच्छ छवि के उम्मीदवारों की तलाश ऐसा इंगित करते हैं।

भ्रष्टाचार इसलिए एक प्रमुख मुद्दा बन गया है क्योंकि भ्रष्टाचार आम आदमी के लिए रोजमर्रा की परेशानियों का सबब बन गया है—चाहे रोजगार, कीमते, शिक्षा, पेयजल, बिजली का मसला हो या पुलिस, नौकरशाही या न्यायपालिका से पड़ता वास्ता हो। इन समस्याओं से निपटने के लिए उनके व्यापक आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और संस्थागत संदर्भों

से जूझना होगा न कि सिर्फ भ्रष्टाचार से। एक और गलतफहमी हो रही है कि इन समस्याओं का हल राजनीतिक या अफसरशाही के स्तर पर आदेश पारित कर के किया जा सकता है।

समांतर अर्थव्यवस्था के निहितार्थ

भ्रष्टाचार से निपटने के लिए इसके कारकों की सही ढंग से पहचान करने की आवश्यकता है। भ्रष्टाचार की बुनियाद लगातार बढ़ती काली व समांतर अर्थव्यवस्था है जो बड़े पैमाने की गैरकानूनी आर्थिक गतिविधियों और लोकतांत्रिक संस्थाओं के विघटन पर आधारित है। राष्ट्रीय आय में इस का हिस्सा 1955-56 के चार-पांच फीसदी से बढ़ कर अब 50 फीसदी से अधिक हो गया है। इस के परिणाम स्वरूप भ्रष्टाचार सर्वव्यापी हो गया है। भ्रष्टाचार का सर्व व्यापक चरित्र अब "व्यवस्थागत और व्यवस्थित" हो गया है। इस लिए इस के व्यापक आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और संस्थागत प्रभाव हैं। इस लिए यह लड़ाई केवल भ्रष्टाचार तक सीमित नहीं हो सकती।

कालेधन की समांतर अर्थव्यवस्था के व्यापक आर्थिक प्रभाव के चलते भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्यकुशलता में कमी आती है। जिस के चलते उत्पादन और सेवाओं की गुणवत्ता खराब हो जाती है और लागत बढ़ जाती है। कार्यकुशलता में कमी के चलते उत्पादन में कमी पैदा की जाती है ताकि सट्टेबाजी से मुनाफा कमाया जा सके। इस के चलते अर्थव्यवस्था के विकास की दर क्षमता से काफी कम रह जाती है। एक गरीब देश से पूंजी बाहर चली जाती है और पूंजी की कमी हो जाती है।

भारत में व्यापार जगत ने काले धन के लिए नेताओं और नौकरशाही के साथ गठजोड़

कर लिया है। इस तिहरे गठबंधन ने राजनीति को ओंछा कर दिया है। पूंजीपति नीतियों को प्रभावित करके अपने लिये अतिरिक्त लाभ सुनिश्चित करते हैं और इन्हें बाकी दो के साथ बांट लेते हैं। इस छोटे से समूह का फायदा बाकी सब लोगों की कीमत पर होता है। इस से असमानता बढ़ती है। चुनाव काफी हद तक अर्थहीन हो गए हैं क्योंकि आमतौर पर ऐसे प्रतिनिधि चुने जाते हैं जो वोट तो आम लोगों का लेते हैं परंतु बाद में निहित स्वार्थों के लिए और आम जनता के हितों के खिलाफ काम करते हैं। सबसे वंचित वर्गों के नेता भी सत्ता में आने के बाद जल्दी ही भ्रष्ट हो जाते हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि लोगों का व्यवस्था से विश्वास खत्म हो गया है और वे जाति, समुदाय और क्षेत्रीय आधार पर छोटे-छोटे समूहों में बंट जाते हैं। आज पुनः आशा का संचार हुआ है और लोगों को नए, स्वच्छ नेताओं की तलाश है। भ्रष्टाचार को सार्वजनिक क्षेत्र तक सीमित माना जा रहा है और निजी क्षेत्र को भ्रष्टाचार से प्रभावित, पीड़ित रूप में चित्रित किया जा रहा है।

ऐसे में भ्रष्टाचार को कम करने के लिए सरकार की भूमिका को सीमित करने का सुझाव दिया जाता है। पूंजीपति ऐसी नीति का समर्थन करते हैं क्योंकि इस से बाजार में उन का एकाधिकार बढ़ जाता है,

जिस से कीमतों और मुनाफे को बढ़ाने की उनकी क्षमता बढ़ जाती है। इस नीति का दूसरा पहलू यह है कि आम आदमी की बाजार पर निर्भरता बढ़ जाती है। जाहिर है कि ऐसी नीति का उन लोगों द्वारा स्वागत किया जा रहा है जो बाजार से लाभान्वित हैं। परंतु बाजार के हाशिए पर जो गरीब तबके हैं जैसे महिलायें, दलित और मुसलमान, उन के लिये तो यह हानिकारक ही है।

बाजार और भ्रष्टाचार विरोध

बाजार गरीबों की (केवल गरीबी रेखा से नीचे वालों की ही नहीं) बुनियादी जरूरतों को पूरा नहीं कर सकता। 1991 के बाद लागू बाजार-आधारित नीतियों के 23 साल बाद, आज हाशिए पर खड़े लोगों का बढ़ती बेरोजगारी और घटती मजदूरी से वास्ता पड़ रहा है। सब्सिडी में कटौती के चलते शिक्षा और स्वास्थ्य की लागत में वृद्धि हो गई है।

इसके अलावा, विज्ञापनों के चलते उपभोक्ता संस्कृति ने लोगों की जरूरतें व खर्च बढ़ाए हैं। इस के परिणामस्वरूप बढ़ती आमदनी के बावजूद गरीबी में वृद्धि का विरोधाभास उभरा है।

संक्षेप में, बाजार समर्थक भ्रष्टाचार विरोधी लड़ाई से आम आदमी को संयोगवश और सीमित फायदा ही होगा, मात्र कार्यकुशलता में सुधार तक सीमित। लेकिन बाजार समर्थक नीतियों के चलते उनका नुकसान कहीं ज्यादा होगा। इसलिये कुल मिला कर भ्रष्टाचार में कमी के बावजूद उनका नुकसान होगा। उदाहरण के लिए, अधिकांश सरकारी स्कूलों में आज शिक्षा का स्तर चिंताजनक है। अगर भ्रष्टाचार विरोधी शासन इन स्कूलों का निजीकरण कर देता है तो इन स्कूलों की फीस बढ़ जाएगी जिस से गरीब तबका शिक्षा से वंचित हो जाएगा। तुलनात्मक दृष्टि से बेहतर 'मध्यम वर्ग' पर भी सीमित क्रयशक्ति के चलते गरीबों जैसा ही प्रभाव होगा। हाशिए पर खड़े लोगों के मुद्दे और हाशिए पर चले जाएंगे।

फिर सवाल उठता है

भ्रष्टाचार विरोधी कार्यक्रम बाजार समर्थक न होकर आम आदमी समर्थक हो। ऐसी आर्थिक नीतियां अपनाई जाए जो असमानता कम करे, रोजगार पैदा करे और कालेधन की समांतर अर्थव्यवस्था पर अंकुश लगाकर उसके संसाधनों का इस्तेमाल देश के विकास व जनता की भलाई में करे।

कि याराना पूंजीवाद और व्यापार समर्थक नीतियों से लाभान्वित व्यापार जगत क्यों भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम में रुचि ले रहा है? उन्होंने पिछले दो दशकों में भारी पूंजी जमा की है वे उसकी रक्षा करना चाहते हैं। उन्होंने

जमीन (जैसे एसईजेड), अन्य प्राकृतिक संसाधनों जैसे खदानों, जंगलों, स्पेक्ट्रम इत्यादि में भारी भरकम निवेश किया है।

2010 के बाद से उजागर हुए बड़े घोटालों से इन के निवेश को खतरा है। बड़ी परियोजनाओं के खिलाफ जन आंदोलन उभरे हैं- पोस्को से लेकर कच्छ तक, कुडनकुलम से लेकर हरियाणा तक। इसलिए व्यापार जगत इन घोटालों में शामिल लोगों से दूरी बना कर अपनी संपत्ति को बचाना चाहता है और अपनी छवि को साफ करना चाहता है। इसके साथ-साथ पूंजीवाद की कुशलता बढ़ा कर अपनी पूंजी को तेजी से बढ़ाना चाहता है। इसलिए व्यापारियों का एक वर्ग भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन का समर्थक है। वे जनता के भ्रष्टाचार विरोधी मूड का लाभ उठा कर पूंजीवाद को वैध ठहराना चाहते हैं। वे पूंजीवाद में सुधार या एक कल्याणकारी राज्य नहीं चाहते। लेकिन क्या समांतर अर्थव्यवस्था, जिसमें पूंजीपति काफी लिस हैं, से निपटे बिना पूंजीवाद कुशल बन

सकता है? भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ाई केवल एक सीमित उपाय ही हो सकता है।

दो रास्ते

बाजार समर्थक भ्रष्टाचार विरोधी कार्यक्रम केवल तत्कालिक नजरिये से उपयुक्त हो सकता है। समय के साथ बढ़ती असमानता, अर्थव्यवस्था पर छाती मंदी और सामाजिक असंतोष के चलते, सामाजिक और राजनीतिक असंतोष को दबाने के लिए शासकों को निरंकुश होना पड़ेगा। विकल्प क्या है?

एक ऐसा भ्रष्टाचार विरोधी कार्यक्रम जो बाजार समर्थक न होकर आम आदमी समर्थक हो। ऐसी आर्थिक

नीतियां अपनाई जाए जो असमानता कम करे, रोजगार पैदा करे और कालेधन की समांतर अर्थव्यवस्था पर अंकुश लगाकर उसके संसाधनों का इस्तेमाल देश के विकास व जनता की भलाई में करे। काले धन पर रोक लगाने और बाजारवादी नीतियों को छोड़ने के लिए राजनैतिक इच्छाशक्ति की जरूरत है।

भ्रष्टाचार पर रोक लगाने के लिए दो रास्ते हैं। एक सीमित ऐतिहासिक समझ और छोटे स्तर का कार्यक्रम जो गरीब को और हाशिए पर धकेल देगा। दूसरी राह है एक लोकतांत्रिक राह जो सबके लिये फायदे की होगी और समांतर अर्थव्यवस्था से निपट कर भारत की कई व्यापक समस्याओं को हल कर पाएगी।

वार्ता यहां से प्राप्त करें

- सोमनाथ त्रिपाठी, अनुसंधान परिसर, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी — 221002, फोन 09415222940
- विश्वनाथ बागी, पुटकी कोलियरी, पो. कुसुंडा, जिला धनबाद, झारखंड 828116, फोन 09835131638
- लिंगराज, समता भवन, बरगढ़, ओडिशा, 768028, फोन 09437056029
- जे. पी. सिंह, जेपी मेडिकल, बेलथरा रोड, जिला बलिया, उत्तरप्रदेश फोन 09454246891
- अच्युतानंद किशोर नवीन, सत्य साहित्य, कन्हौली, शारदानगर, पो. आर के आश्रम बेला, मुजफ्फरपुर, बिहार, 843116, फोन 09470268745
- नवल किशोर प्रसाद, एडवोकेट, छोटा बरियापुर, वार्ड नं 38, पो. सिविल कोर्ट, थाना छतौनी, मोतीहारी, बिहार 845401, फोन 08271829617
- चंद्र भूषण चौधरी, भारती अस्पताल, कोकर चौक, हजारीबाग रोड, रांची, झारखंड 834001, फोन 09006771916
- रामजनम, सर्वोदय साहित्य भंडार, प्लेटफार्म नं. 4, वाराणसी कैंट स्टेशन, वाराणसी 221002, फोन 08765619982
- अमरेंद्र श्रीवास्तव, पुरानी गुदड़ी, वार्ड नं. 9, थाना-नगर, पो. बेतिया, बिहार 845438, फोन 09031670370
- चंचल मुखर्जी, मुखर्जी बुक डिपो, पांडे हवेली, वाराणसी, फोन 0542-2454257
- शिवजी सिंह, अधिवक्ता, महददीगंज, बलुआ टोला, पो. सासाराम, जिला रोहतास, बिहार 821115, फोन 09431846052
- रमाकांत वर्मा, सेक्टर 3 डी, क्वा नं.589, बोकारो स्टील सिटी, झारखंड 827003
- अल्मोड़ा किताबघर, मित्रभवन, गांधी मार्ग, अल्मोड़ा, उत्तराखंड 263601 फोन 09412092061
- दिनेश शर्मा, डी 68, ए ब्लॉक, खूंटाडीह, सोनानी, जमशेदपुर, झारखंड 831011, फोन 09431703559
- इकबाल अभिमन्यु, 28 पेरियार छात्रावास, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली 110067, फोन 09013183889
- मनोज वर्मा, इहमी कंपाउंड, पो.रामनगर, जिला पश्चिमी चंपारन, बिहार 845106
- राजेंद्र बिंदल, 252 ई, पाकेट डी, दिलशाद गार्डन, दिल्ली, 110095 फोन 09266955416
- रोशनाई प्रकाशन, 212 सी. एल/ए., अशोक मित्र रोड, कांचरापाड़ा, उत्तर 24 परगना, प.बंगाल, 743145 फोन 033-25850249
- गोपाल राठी, सांडिया रोड, पिपरिया, जिला होशंगाबाद, म.प्र. फोन 09425408801
- तपन भट्टाचार्य, 201, सुशीला कॉम्प्लेक्स, 130, देवी अहिल्या मार्ग, इंदौर- 452003 फोन-09826011413

हिमालयी भूलें और पारंपरिक प्रबंध

विजय जड़धारी

उत्तराखंड के लोग बिना विचारे हो रहे गलत विकास के नतीजों को भुगत रहे हैं। सही मायने में आपदा प्रबंधन और निवारण के लिए हमें पारंपरिक जीवन-शैली और व्यवस्थाओं से सीखना पड़ेगा। उत्तराखंड की भीषण आपदा के कारणों की विस्तृत पड़ताल और पारंपरिक प्रबंध की खूबियों को उजागर करता गवेषणापूर्ण लेख।

चिपको आंदोलन से जुड़े रहे विजय जड़धारी काफी समय से देशी बीजों, जैविक संपदा और पारंपरिक खेती के संरक्षण में लगे हैं। इंदिरा गांधी पर्यावरण पुरस्कार से सम्मानित।

पता:

बीज बचाओ आंदोलन,
नगणी, टिहरी गढ़वाल,
उत्तराखंड पिन: 249175
फोन:

0941177758

उत्तराखंड के उच्च हिमालयी इलाकों में हाल ही में आई आपदा से सारा देश चिंतित है। इस आपदा ने कुछ क्षेत्रों का भूगोल बदला तो आपदा का नया इतिहास भी रच डाला। आपदा में हुई जन-धन की हानि का सही-सही आंकड़ा न तो उजागर हुआ है, न भविष्य में इसकी साफ-साफ तस्वीर सामने आने की संभावना है। लेकिन अकेले केदारघाटी में 16-17 जून 2013 को दस हजार से अधिक लोगों का जिंदा दफन होना निःसंदेह डराने वाला है।

इस आपदा को दैवी आपदा, हिमालय सुनामी, प्रलय, महाप्रलय, मानव जाति व व्यवस्था जनित आपदा आदि नामों से संबोधित किया गया है। राज्य सरकार, योजनाकार, कारपोरेट सेक्टर, ब्यूरोक्रेट व टैक्नोक्रेट आदि दैवी आपदा का प्रचार कर सारा दोष प्रकृति के माथे मढ़ने में लगे हैं। निःसंदेह दैवी आपदा कहने से उन्हें दोहरा लाभ पहुंच रहा है। पहली बात यह है कि दैवी आपदा के बहाने पुनः निर्माण के लिए मोटी से मोटी धनराशि राहत में मिल रही है। दूसरी बात यह है कि प्रकृति के साथ जो नाजायज छेड़-छाड़ की गई थी आपदा ने उसे तहस-नहस कर दिया है, अब वे अपने को दोषमुक्त मानते हैं। आपदा को प्रथम दृष्टया देखें तो यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि सड़कें काल, तो बांध महाकाल बन कर आपदा में शरीक हुए हैं। हम सर्वोच्च न्यायालय के उस आदेश के आभारी हैं जिसके अंतर्गत नई जलविद्युत परियोजनाओं पर रोक लगाई गई है, लेकिन बांध परियोजनाओं के कारण जो जन-धन की हानि हुई और लोगों की भी आजीविका उजड़ी उसके लिए जिम्मेदार लोगों को कब सजा मिलती है, इस न्याय की

सबको प्रतीक्षा है। मोटे तौर पर इस आपदा के निम्न कारण नजर आते हैं:-

1. जलवायु परिवर्तन और बदलता मौसम
2. डायनामाइट के भारी विस्फोट
3. सड़कों की अवैज्ञानिक प्रौद्योगिकी
4. बांध / जलविद्युत परियोजनाओं का अंधाधुंध निर्माण
5. नदियों के किनारे अव्यवस्थित व अवैध निर्माण
6. वैध-अवैध उत्खनन

जलवायु परिवर्तन और बदलता मौसम

जलवायु परिवर्तन और धोखा देता मौसम हिमालयी क्षेत्र की एक बड़ी समस्या है। जो लोग दैवी आपदा या हिमालयी सुनामी कह कर इस आपदा के लिए प्रकृति के ऊपर सारा दोष मढ़ते हैं, उनका ज्ञान हिमालय व यहां के जनजीवन के बारे में बहुत कमजोर है। बादल, बारिश एवं नदियां आदि जरूर दैवीय हैं किंतु एक साथ एक ही इलाके में या एक ही जगह पर भारी बारिश होना, कभी सूखा पड़ना, ग्लेशियरों का टूटना या नंगा होना कतई दैवीय नहीं है। यह सब वैश्विक जलवायु परिवर्तन के कारण हो रहा है, इसमें हमारा योगदान इतना है कि शिव की एकांत स्थली केदारनाथ एवं उच्च हिमालय जहां पहले पक्षी भी सीजन में विचरण करते थे, वहां पर हमने कुदरती जंगल काटकर कंकरीट के जंगल खड़े कर दिए और हजारों मोटर-गाड़ियां व हैलीकाप्टरों का मजमा लगा दिया है। बड़े शहरों में हर व्यक्ति अपनी गाड़ी चाहता है। शहरों की सभ्यता प्रदूषण की सभ्यता है। यह भोगवादी व प्रदूषणकारी सभ्यता गांव व सुदूर हिमालय

तक पहुंच रही है, विनाशकारी विकास का हमारा मॉडल भी इसमें सहायक है।

हिमालयी क्षेत्र की जलवायु और मौसम को पढ़ने के लिए हम यदि बुजुर्गों के पास जाएं तो पता चलता है कि तीन-चार दशक पूर्व यहां इससे भी ज्यादा बारिश होती थी। फर्क सिर्फ इतना है तब एक मानसून या अकेले एक स्थान पर नहीं अपितु सब जगह खूब वर्षा होती थी। अधिक वर्षा से बाढ़ें नहीं आती तो भला अंगरेजी के अक्षर वी (V) आकार की घाटियां कैसे बनती? नदियों व नालों की बाढ़ के कारण ही ये वी आकार की घाटियां बनी हैं। बड़ी नदियों के अलावा यहां हजारों गैर-बर्फानी नदियां हैं और ये नदियां लोगों की आजीविका का मुख्य आधार हैं, क्योंकि इनसे सिंचाई की गूलें (नालियां) निकालकर लोग अपने खेतों को हरा-भरा करते हैं।

उत्तराखंड के लोग मानसून को चौमासा यानी चतुर्मास कहते हैं। पहले इन चार महीनों आषाढ़, सावन, भाद्रपद व आश्विन में इससे भी ज्यादा बारिश होती थी। सावन के महीने को अंधियारा महीना कहते थे, न दिन में सूरज निकलता था, न रात में चांद तारे। एक तारा दिखाई दिया तो कहते हैं एक बिस्वा अनाज कम हो जाता था। जितनी ज्यादा बारिश हो जाए, अच्छा माना जाता था। बाढ़ भले ही आती थीं, नदियां जमीन को गहराई से काटकर अपने रास्ते बनाती थीं, लेकिन तब कहीं तबाही नहीं होती थी। क्योंकि बाढ़ के साथ गाद यानी रेत बजरी नहीं होती थी।

शरदकाल में भी तीन या चार महिने बारिश होती थी। मार्ग शीर्ष से फाल्गुन तक खूब बारिश और बर्फ पड़ती थी। जहां पहले दो-तीन फुट बर्फ पड़ती थी, आज वहां बिल्कुल भी बर्फ के दर्शन नहीं होते हैं। नई पीढ़ी ने अपने गांव में बर्फ नहीं देखी है। कितना आश्चर्यजनक परिवर्तन हो रहा है मध्य हिमालयी इलाकों में? यहां की अच्छी जलवायु, अच्छी बारिश व अच्छी बर्फ के कारण यहां के किसान एक जमाने में खाद्यान्न, जंगली, फल-फूल व सब्जियों की उपज के कारण संपन्नता और खुशहाली के शीर्ष पर थे। चारों तरफ सुख-शांति और समृद्धि थी। इसकी

जानकारी गढ़वाल के इतिहास और देश के लोग बदरीनाथ-केदारनाथ व गंगोत्री-यमुनोत्री की पैदल यात्रा करते थे, और चट्टियों में बसेरा करते थे। मंदिरों के आसपास बसना सिद्ध-पीठों में वर्जित था।

आज चारों ओर भारी बारिश, भूस्खलन, बाढ़ व तबाही की चर्चा है। राहत व पुनः निर्माण की परियोजनाएं चारों ओर सुनाई देने लगी हैं। इसके पहले जब 2009 में उत्तराखंड में भयंकर सूखा पड़ा था, उस सूखे को सदी का सबसे बड़ा अकाल कहा गया था। पानी के स्रोत सूख गए थे। पेयजल के लिए हाहाकार मचा था, तब गांव-गांव में टैंकरों या घोड़े-खच्चरों से ढुलान कर पीडीएस की तर्ज पर नपा-तुला पानी गांवों में बांटा जा रहा था। किसान कहीं बीज बुआई नहीं कर पाए तो जहां बुआई हुई वहां कटाई की नौबत ही नहीं आई। फसलें नष्ट हो गई थी। 2009-10 में सूखा राहत का खूब ढोल पीटा गया। पर राहत आज तक नहीं मिली। यह सूखा 2010 के जुलाई के मध्य तक चला।

आज डायनामाइट और जेसीबी जैसी भारी मशीनें आ गई हैं, जो पल भर में धरती मां को लहलुहान कर भारी मलबा उधेड़ लेती है। सच्चाई से रिसर्च कर देखें तो पता लगेगा सड़कों के कारण पिछले कुछ दशकों से लाखों नहीं, करोड़ों टन मलबा (मिट्टी, पत्थर, रोड़ी) नदियों, गदरों, जंगलों और खेतों में डाला गया है, जिसके कारण तबाही हुई है।

फिर अगस्त के मध्य से सितंबर तक इतनी भारी बारिश हुई कि चारों ओर बाढ़ व भूस्खलन से तबाही मच गई। उत्तराखंड सरकार ने केंद्र सरकार से 2100 करोड़ की आपदा सहायता मांगी किंतु मिले सिर्फ 600 करोड़। आश्चर्य की बात यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों की अनेक पेयजल

योजनाओं, रास्ते, पुलियाओं आदि की मरम्मत आज तक नहीं हो पाई है। कहीं-कहीं दिखावा मात्र के लिए काम हुआ, लेकिन हाल ही में आई आपदा से तो और भी ज्यादा तबाही हो गई तो अब उनके पुराने सब पाप धुल गए हैं। नए-नए प्रोजेक्ट, नए-नए इस्टीमेट बनाने में सब विभाग व्यस्त हैं।

जहां तक दैवी आपदा का सवाल है भूकंप को एक हद तक दैवी आपदा कहा जा सकता है और उत्तराखंड इसके लिए अति संवेदनशील है। यहां अधिकांश हिस्सा खतरनाक जोन 5 में पड़ता है। यहां भूकंपों का इतिहास निश्चित तौर पर बड़ा खतरनाक रहा है। 1803 में उत्तराखंड में खतरनाक भूकंप आया था, जिसमें यहां की लगभग 80 प्रतिशत आबादी खत्म हो गई थी। भूकंप से टूट चुके गढ़वाल

राज्य पर नेपाल ने आक्रमण कर जीत लिया था। 12 वर्ष तक यहां नेपाल के गोरखा शासकों का शासन रहा। तब यहां न तो बहुमंजिला इमारतें थीं, न बांध-बैराज, न टनल, न सड़कें। आज यदि भूकंप आता तो कल्पना करें कितनी तबाही होगी? आज मानव निर्मित भूकंप बुलाने के लिए टिहरी बांध जैसी झीलें भी तैयार कर ली गई हैं।

भूकंपों की यह श्रृंखला अभी जारी है। 1991 में उत्तरकाशी में आए भूकंप से एक हजार के लगभग जानें गई थीं, भारी जन-धन की हानि हुई थी। 1995 व 1999 में फिर चमोली व अन्य क्षेत्रों में भूकंप से जन-धन की हानि हुई। हमारे आपदा प्रबंधन की कागजों में बड़ी तैयारियां होती हैं, किंतु आपदा के वक्त यह प्रबंधन गायब हो जाता है। कहीं भी आपदा प्रबंधन कारगर साबित नहीं हुआ और हाल ही में आई आपदा ने तो इसकी पूरी पोल खोलकर रख दी है। यह बात पक्की है कि भविष्य में और बड़ी आपदाएं आ सकती हैं। इसलिए आपदा प्रबंधन का पूरा ढांचा बदलना होगा और आपदा प्रबंधन की अग्रिम संचार तकनीकी विकसित करनी होगी।

बांधों के आस-पास के ग्रामीणों के लिए आपदा प्रबंधन करने वाली जलविद्युत कंपनियां अपने ही बने जाल में इतनी बुरी तरह फंसी कि कई कंपनियों का अपना ही सब कुछ तहस-नहस हो गया। वे अपने आप तो गईं किंतु साथ में हजारों लोगों की जीवनलीला भी समाप्त कर दी और जिंदा बचे लोगों की आजीविका उजड़ गई। आधुनिक विज्ञान व प्रौद्योगिकी पर बड़ा सवालिया निशान लग गया है कि यह

विकास है या विनाश? यदि पर्यावरण मंत्रालय द्वारा गंगोत्री-उत्तरकाशी क्षेत्र इको सेंसेटिव जोन (पर्यावरण की दृष्टि से संवेदनशील क्षेत्र) घोषित नहीं किया जाता तो गंगा घाटी में तबाही और भी अधिक होती।

डायनामाइट के धमाके

पिछले दस पंद्रह सालों में सड़क, बांध परियोजनाओं व अन्य निर्माण कार्यों के लिए हजारों टन डायनामाइट सामग्री का उपयोग किया गया है। हिमालय की पहाड़ियां इतनी संवेदनशील हैं कि यदि एक पटाका भी फोड़े तो उसकी आवाज दूसरी पहाड़ी तक पहुंचकर नई आवाज पैदा करती है। आसमान में जब परीक्षण के लिए फौजी जहाज बम फोड़ते हैं तो घरों में कंपन होता है। लेकिन यहां बांध परियोजनाओं की टनल व सड़क निर्माण के लिए भारी से भारी विस्फोटकों का इस्तेमाल किया गया है। इसकी अनुमति भी ली गई या नहीं, यह संदेह में है। बांध परियोजनाओं में टनल बनाने के लिए डायनामाइट के दुष्प्रभाव किसी भी सुरंग आधारित जलविद्युत परियोजनाओं में देखे जा सकते हैं। सुरंग के आस-पास ही नहीं अपितु दूर तक के कोई घर ऐसे नहीं हैं जो क्षतिग्रस्त न हों। विस्फोट के समय धरती में दरारें पड़ जाती हैं और बारिश होने पर इन दरारों में पानी का रिसाव होता है, जिससे भूस्खलन व भूसंरक्षण होता है और बाढ़ आती है, फिर तबाही होती है। टिहरी बांध की टनल के धमाकों से जमीन इतनी कमजोर है कि जीरो ब्रिज से होकर देव प्रयाग व अन्य क्षेत्रों को जाने



वाली सड़क हर वर्ष भूस्खलन से वर्षात में बंद रहती है। भविष्य में यह सड़क पूरी तरह बंद भी हो सकती है। इस कारण आज सारा ट्रैफिक टिहरी बांध के ऊपर चल रहा है। भिलंगना व प्रताप नगर ब्लाक के लोगों ने दूरी घटाने की दृष्टि से जब बांध के ऊपर की सड़क को मुख्य सड़क बनाने की मांग की तो सुरक्षा के बहाने उन्हें अनुमति नहीं दी गई।

निःसंदेह डायनामाइट पहाड़ों के लिए बहुत खतरनाक है। निर्माण कार्य में डायनामाइट के प्रयोग से अनेकों जल स्रोत भी सूख जाते हैं। इतनी बड़ी आपदा के बाद भी पुनः निर्माण कार्य के लिए लोनिवि व बीआरओ डायनामाइट के बेहताशा धमाकों को नहीं रोक रहे हैं। डायनामाइट के धमाकों को रोकने के लिए उच्च निर्णय लिया जाना जरूरी है। डायनामाइट के विकल्प ढूंढे जाने चाहिए।

सड़कों की अतैज्ञानिक प्रौद्योगिकी

निःसंदेह सड़कें पहाड़ की जीवन रेखा है, क्योंकि यहां पर न तो रेलवे लाइन है न आम आदमी हवाई सेवा का उपयोग कर सकता है। ले-

देकर सड़क ही परिवहन का साधन है, किंतु सड़क निर्माण की पुरानी तकनीकी तब इतनी खराब नहीं थी, जब मानव श्रम से सड़क बनती थी। आज डायनामाइट और जेसीबी

जैसी भारी मशीनें आ गई हैं, जो पल भर में धरती मां को लहूलुहान कर भारी मलबा उधेड़ लेती है। सच्चाई से रिसर्च कर देखें तो पता लगेगा कि सड़कों के कारण पिछले कुछ दशकों से लाखों नहीं करोड़ों टन मलबा (मिट्टी, पत्थर, रोड़ी) नदियों, गदरों, जंगलों और खेतों में डाला गया है, जिसके कारण तबाही हुई है।

एक किलोमीटर सड़क बनाने के लिए लगभग 30 लाख रु. खर्च होते हैं, फिर भी सड़क बनाने का तरीका देखिए- सड़क के एलाइनमेंट के लिए किसी भूगर्भ वैज्ञानिक व पर्यावरण के जानकार की मदद नहीं ली जाती है। इंजीनियर, ठेकेदार और राजनेता विकास के नाम पर सब जगह हावी रहते हैं। सड़क विकास है या सुविधा यह भी समझने वाली बात है। सड़क बनाने के दो महकमें मुख्य हैं लोक निर्माण विभाग व बीआरओ। लोनिवि तो भ्रष्टाचार की जननी है यहां निर्माण कार्यों में 40-50 प्रतिशत कमीशन

विभाग के अभियंता ठेकेदारों से वसूलते हैं। अब पूंजी लगाने वाला ठेकेदार कितना कमाएगा और फिर कितना काम होगा? इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। बी.आर.ओ. पहले ईमानदार संगठन था किंतु अब उनका सीमेंट भी सड़कों में बिकता है, कमीशनखोरी वहां भी आ गई है। अब आपदा के भारी भरकम पैसे के आने के बाद जो सड़कें बनेंगी इसका मोटा फायदा आखिर किसका होगा? अंदाजा लगा सकते हैं। कहीं भी भ्रष्टाचार रोकने और गुणवत्ता की बात नहीं हो रही है।

सड़क निर्माण की खतरनाक और असफल प्रौद्योगिकी ने ही पहाड़ की जीवन रेखा 'सड़क' को काल बना दिया है। सैकड़ों सड़कें ध्वस्त पड़ी हैं या एक दूसरे के ऊपर उनका मलबा पड़ा है। आपदा के समय एक लाख से अधिक लोगों को जगह-जगह इंजीनियरों की बनाई सड़कों ने ही तो फंसाया है और यहां के ग्रामीण तो आज भी परेशानी में हैं। यदि सड़कों का निर्माण गुणवत्ता से होता और उनका ढाल, नालियां व नारदाने ठीक होते तो इतनी सड़कें ध्वस्त नहीं

होती। चाहे हाईवे हो या आम सड़क कहीं भी नालियों व नारदानों की देखभाल नहीं होती है। सब जगह नालियां व नारदाने बंद रहते हैं। फिर भी कहीं से एक शब्द भी निर्माणकर्ताओं पर नहीं उठा, दंडित करने की बात तो

कोसों दूर है। जबकि लाखों रुपए का रोड टैक्स वाहनों से प्रतिदिन वसूला जाता है।

सड़कें बनाने के लिए पहाड़ों को काटकर मलबा सीधे नीचे लुढ़काया जाता है। मलबा खेत, खलिहान, जंगल व नदी आदि कहीं भी पड़े इसकी किसी को परवाह नहीं होती। ऊपर से भारी जेसीबी के ब्लेड धरती को खूब उधेड़ देते हैं। जहां कठोर चट्टानें हैं वहां डायनामाइट के धमाकों से पहाड़ों में दरारें पड़ जाती हैं। कुछ दिन बाद बारिश होते ही भारी भूस्खलन होने लगता है। नीचे डाला गया मलबा भी बहकर खिसकने लगता है। यह मलबा भूस्खलन का बड़ा रूप लेकर नदियों में बाढ़ का रूप लेता है और तबाही होती है। एक नई कहावत बन गई है- "सड़क कच्ची, कमीशन और नौकरी पक्की"। हर वर्ष मरम्मत का पैसा और कमीशन मिलता रहेगा।

तबाही को रोकने के लिए जरूरी है कि सड़क निर्माण

की तकनीकी बदली जाए। सड़क कटाव से जितना मलबा निकलता है, उसका उचित स्थान पर निस्तारण किया जाए। धरती के काटे गए हिस्से पर ऊपर व नीचे से मजबूत पुस्ते यानी दीवारें बनाई जाएं, वहां पर घास, झाड़ियां व वृक्षारोपण साथ-साथ किया जाए। वे समस्त तरीके अपनाए जाएं, जिससे घायल धरती मां के घाव भर सकें। धरती के साथ वही व्यवहार होना चाहिए जो एक जीवधारी के साथ होता है- उदाहरण के लिए किसी मानव की सर्जरी करने पर डाक्टर उसे चिरे गए भाग पर टांके लगाकर मरहम पट्टी और दवा लगाते हैं, धरती का ईलाज भी हम उसी तरह करेंगे तो 90 प्रतिशत से अधिक सड़कों को भूस्खलन की समस्या से बचा सकते हैं। कठोर चट्टानों काटने के लिए नई तकनीकी की कटर मशीनों से पहाड़ काटे जा सकते हैं और जरूरत पड़ने पर छोटी-छोटी टनल ड्रिल विधि से बनाकर सड़क निर्माण की नई तकनीकी विकसित की जा सकती है। इसके साथ ही धरती के कटाव करने की अपेक्षा पुल भी ज्यादा मात्रा में बनाए जा सकते हैं।

नारदाने, नालियां व सफाई को व्यवस्थित रखने एवं छोटे बड़े मलबे को हटाने के लिए प्रति आठ दस किमी पर सड़क सुरक्षा दस्ता बारह महीने तैनात रहना चाहिए। इस दस्ते की मुख्य जिम्मेदारी सड़क की सफाई, नालियां और नारदाने का सुधार करना होना चाहिए। सड़क निर्माण व रख-रखाव के ठोस मानक होने चाहिए। मानक का उल्लंघन करने वाले अधिकारियों व ठेकेदारों को दंडित करना चाहिए।

जलविद्युत परियोजनाएं महाकाल क्यों?

हिमालय कितना संवेदनशील है, यह बात भूगर्भ वैज्ञानिकों ने काफी साफ की है। इसके बावजूद भी उत्तराखंड में 558 से अधिक बांध/बैराज और छोटी बड़ी जलविद्युत परियोजनाओं पर काम चल रहा है। अनेकों योजनाएं बन चुकी हैं और डेढ़ दर्जन से अधिक परियोजनाएं निर्माणकर्ताओं की गलती से हाल में आई आपदा के कारण नष्ट भी हो गई हैं।

केदारनाथ और केदारघाटी हाल ही की आपदा के कारण सबसे ज्यादा चर्चा में है। सबसे ऊंचाई से तीखे ढाल

में बहने वाली मंदाकनी नदी कई नदियों की तरह कंपनियों के कब्जे में है। रामबाड़ा इस आपदा में जिंदा लाशों का दुनिया का सबसे बड़ा कब्रिस्तान बन गया था। वहां पर लैंको नामक कंपनी 76 मेगावाट की रामबाड़ा जलविद्युत परियोजना चला रही थी और इसी के समीप सीतापुर में कंपनी की दूसरी परियोजना फाटा-ब्यूंग का बैराज बन चुका था और फाटा तक 8-10 किमी की सुरंग के पावर हाउस आदि बन गए थे। आगे ब्यूंग तक लगभग 18 किमी सुरंग बन रही थी। शेरसी व खड़ियां सहित जिन दर्जनों गांव में तबाही देखी जा सकती है, उन गांवों के नीचे के टनल गुजरती है। इस परियोजना की हवाई दूरी केदारनाथ से 1.5 (डेढ़ किमी) के लगभग है। पहाड़ियां आपस में जुड़ी हैं। दर्जनों गांवों के स्थानीय लोग बताते हैं कि टनल निर्माण के लिए कंपनी ने भारी से भारी डायनामाइट के धमाके किए। फलस्वरूप उनके घर क्षतिग्रस्त हुए। जब धमाके होते थे तो पूरे पहाड़ हिलते थे। जब केदारनाथ के आस-पास की पहाड़ियों पर बसे गांव हिले हैं तो यह भी निश्चित है कि

नदियों की रेत-बजरी हिमालय का लहु, मांस व हड्डियों का चूरा है। हिमालय का यह लहु-मांस व हड्डी नदियों की बाढ़ एवं आपदा के कारण रेत-बजरी के रूप में बहकर जैसे ही मैदानों में प्रवेश करता है, सरकार व माफिया के लिए वह सोना बन जाता है।

केदारनाथ के समीप चौराबाड़ी ताल व ग्लेशियर भी इन धमाकों से हिला होगा। इसी के फलस्वरूप यहां ज्यादा तबाही हुई है।

16-17 जून 2013 को केदारनाथ से जब मंदाकनी में बाढ़ आई तो

सीतापुर में लैंको कंपनी के बांध-बैराज में बाढ़ का पानी रुक गया। लाखों-करोड़ों क्यूसेक पानी उसमें जमा हुआ। टनल में भी बाढ़ का पानी घुसा लेकिन बहती गाड़ियों व मलबे से टनल बंद हो गई और एक बड़ी झील सोनप्रयाग तक बन गई। फलस्वरूप, सीतापुर व सोनप्रयाग की जीती जागती बस्ती, दुकानें, होटल व आवासीय घर भी डूब गए और कुछ देर बाद लैंको का बांध-बैराज भी टूट गया। इससे आई बाढ़ में सड़कों में खड़े सैंकड़ों वाहन बह गए। सोनप्रयाग, सीतापुर, चंद्रापुरी, विजयनगर, अगस्त्यमुनि और आगे श्रीनगर तक भारी तबाही हुई। कुंड के समीप एल एंड टी कंपनी की सिंगोली-भटवाडी परियोजना के कारण मंदाकनी घाटी में और तबाही हुई। आंखों देखा सच यह है कि बांध निर्माण कंपनियों ने भारी डायनामाइट के विस्फोट तो किए थे, साथ ही सुरंग व अन्य निर्माण का लाखों टन मलबा भी नदी में डाला। इसने आग में घी का काम किया।

अलकनंदा की सहायक विष्णुगंगा पर जेपी कंपनी की विष्णुप्रयाग योजना का विरोध आरंभ से था, फिर भी यह योजना बन गई। जेपी कंपनी ने अधिक बिजली के लालच में अपने बांध-बैराज में पहले बाढ़ का पानी भरने दिया और क्षमता से अधिक पानी जमा होने पर अचानक बैराज टूट गया। इससे पैदा हुई बाढ़ ने प्रलय का रूप लिया। फलस्वरूप हेमकुंड, गोविंद घाट, लामबगड़, विष्णुप्रयाग व आगे श्रीनगर तक भारी तबाही हुई। श्रीनगर की बस्तियों व वहां सरकारी संस्थानों को डुबाने में जीबीके कंपनी की श्रीनगर जलविद्युत परियोजना इसी तरह सीधे-सीधे जिम्मेदार है।

राज्य में नदी घाटियों और उच्च हिमालय में तब से ज्यादा संकट आया है जब से सुरंग आधारित जलविद्युत परियोजनाओं की बाढ़ आई है। एक अनुमान के अनुसार यहां पर प्रस्तावित बांधों की सुरंगों की लंबाई 1800 किमी तक बैठती है और 225 किमी सुरंगें अब तक खोदी जा चुकी हैं। अनुमान लगाइए इनसे कितना मलबा निकला होगा वह सब नदियों में ही डाला गया है। आने वाले समय में भारी बारिश भूस्खलन व भूकंप आदि की घटनाएं बढ़ेंगी। आपदा प्रबंधन के भरोसे, वर्तमान ढांचे के भरोसे रहना खतरनाक है, अब आपदा की पूर्व सूचना प्रणाली नए ढंग से विकसित करनी होगी। जरूरी है आपदा बुलाने और आपदा बढ़ाने वाले कार्यों को ही रोका जाए। दर्जनों जलविद्युत निर्माता कंपनियां ऐसी हैं जिन्होंने पर्यावरण मंत्रालय के आदेशों का कहीं पालन नहीं किया है। श्रीनगर विद्युत परियोजना इसका उदाहरण है। फिर भी उन पर कोई कार्रवाई क्यों नहीं हुई है? दुखद बात यह है कि राज्य सरकार पर माफिया का दबाव बहुत भारी है। विकास के नाम पर माफिया विकास तंत्र यहां के संसाधनों की लूट में लगा है। भारत सरकार ने जब गोमुख से उत्तरकाशी तक भागीरथी घाटी को संवेदनशील क्षेत्र घोषित किया तो सारे राजनीतिक दल, यहां तक कि राज्य सरकार भी इसके विरोध में आ गई। इससे साफ पता चलता है कि हिमालय की नदियां, वन एवं खनिज संपदा पर माफिया तंत्र कितना भारी है। इसलिए निर्माता कंपनियां कानून की धजियां उड़ा रही हैं।

बांध एवं जलविद्युत परियोजनाओं के लिए पहाड़ की छोटी-बड़ी नदियां बड़ी कंपनियों के हाथ बेची जा रही हैं, जिसके फलस्वरूप यहां के मूल निवासियों के जिंदा रहने के प्राकृतिक और मौलिक हक छीने जा रहे हैं। जहां-जहां परियोजनाएं बनी हैं वहां के लोगों को आज बड़े संकट का सामना करना पड़ रहा है। टिहरी बांध प्रभावित कई

गांवों का अब तक सही पुनर्वास नहीं हो पाया और जो गांव झील के किनारे हैं, वे जमाने के काले पानी की सजा भुगत कर परेशानी में जीवन काट रहे हैं। इसलिए जरूरी है कि नदियों को बहने दिया जाए, उनका प्राकृतिक स्वरूप कायम रहे, उस पर किसी प्रकार की नाजायज छेड़छाड़ न की जाए। यदि नदी के सीधे प्रवाह से बिजली बन सकती है तो जन समुदाय द्वारा ही सहकारिता के आधार पर परियोजनाएं बनाई जानी चाहिए या सरकार अपने संसाधनों से इन योजनाओं का निर्माण करे।

वैध-अवैध खनन

खनन पहाड़ के लिए भारी अभिशाप है। 1980 के दशक तक देहरादून और मसूरी की पहाड़ियों में जो चूना पत्थर खनन हुआ उसके घाव अब तक नहीं भरे हैं। तब यहां एक सौ से अधिक खानें थी। यदि यह खनन अब तक जारी रहता तो महाविनाश होता। लेकिन तब जन आंदोलन व सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के तहत खनन पर रोक लगी, किंतु अब भी पिथौरागढ़ और बागेश्वर के कुछ हिस्सों में खड़िया खनन के लिए विनाश किया जा रहा है। प्रदेश सरकार सर्वोच्च न्यायालय की अवहेलना कर चूना पत्थर खनन के नये पट्टे भी दे रही है। टिहरी गढ़वाल के कटालडी गांव की वन पंचायत की भूमि/वन भूमि में इसी तरह का अवैध पट्टा चूना पत्थर खनन के लिए दिया गया है। जो सर्वोच्च न्यायालय के 12.12.1996 के गोदवर्मन फैसले का सीधा-सीधा उल्लंघन है। जिसके विरुद्ध ग्रामीण आंदोलन चला रहे हैं।

नदियों की रेत-बजरी हिमालय का लहु, मांस व हड्डियों का चूरा है। हिमालय का यह लहु-मांस व हड्डी नदियों की बाढ़ एवं आपदा के कारण रेत बजरी के रूप में बहकर जैसे ही मैदानों में प्रवेश करता है, सरकार व माफिया के लिए वह सोना बन जाता है। इसको यदि वैज्ञानिक ढंग से बिना नदी को प्रभावित किए निकाला जाता है तो उससे प्राप्त राजस्व को आयोग हिमालय के उस हिस्से के इलाज के लिए किया जाना चाहिए जहां से यह भूस्खलन, भूसंरक्षण व बाढ़ के कारण नदियों के द्वारा बहा कर ले जाया गया है। तभी हिमालय बचेगा, वरना हिमालय तेज गति से उजड़ता जाएगा और माफिया मालामाल बनते जाएंगे।

नदियों के किनारे अव्यथित व अवैध निर्माण

आपदा में मृतकों की संख्या बढ़ाने में तीर्थ स्थानों

और पर्यटक क्षेत्रों में नदियों के किनारों बसी नई-नई अवैध बस्तियों का भी बड़ा योगदान है। पहले पहाड़ी के नीचे गांव एवं बस्तियों नहीं बसती थी। किंतु पिछले कुछ सालों से लोगों ने सिर्फ बढ़ते कारोबार या आजीविका पर ध्यान दिया, लेकिन भविष्य के खतरों की चिंता नहीं की। इसके लिए सरकारी विभागों का भी दोष है। उन्हें सब कुछ पता था किंतु वे भी अपनी चौथ वसूलते रहे। यही कारण है कि तबाही में ज्यादा लोग मारे गए। अब पुनर्निर्माण के दौर में भारी सावधानी बरतने की जरूरत है। भवन निर्माण के लिए सही जगह का चयन होना चाहिए और स्थानीय पारंपरिक शिल्प व ज्ञान के आधार पर या नई तकनीक का उपयोग कर भूकंप या अन्य आपदा से बचाव के लिए मजबूत घर बनने चाहिए। पुराने शिल्प के घर पिछले भूकंपों में भी सुरक्षित रहे।

परंपरा से सीखने की जरूरत

जंगल को आज भी यहां के निवासी आजीविका के मुख्य आधारों में मानते हैं। पहले हर एक गांव का अपना सामूहिक जंगल, गोचर, पनघट, पटालखान, पत्थर की खान, छज्जे की खान, खेती के औजारों का जंगल व गाड़/ नदियां आदि होती थी। इन नागरिक अधिकारों को सरकारी या राजा के पुराने बंदोबस्त में देखा जा सकता है। स्थानीय संसाधनों से स्थानीय कारीगर घर बनाते थे किंतु आज आपदा में सरकार फैब्रिकेट सामग्री की कालोनियां बसाने का काम कर रही है। क्या यह यहां के पर्यावरण के अनुकूल है? आजादी से पूर्व आजादी के बाद सरकार की गलत वननीति कारण जब लोगों के हक-हकूक छिनने लगे तो 1930 में लोगों में वन हक-हकूक को लेकर उत्तरकाशी के तिलाड़ी नामक स्थान पर राजा के खिलाफ विद्रोह किया था। इस विद्रोह को दबाने के लिए राजा की फौज ने तिलाड़ी में सभा कर रहे सैकड़ों निहत्थे लोगों को बंदूक की गोलियों से भून डाला था। इसे गढ़वाल का जालियावाला वाग हत्याकांड कहा जाता है। आजादी के बाद 1970 के दशक में यहां के लोगों ने जंगलों को बचाने के लिए अहिंसक चिपको आंदोलन चलाया। चिपको आंदोलन का नारा था-



‘क्या है जंगल के उपकार - मिट्टी, पानी और आधार’

‘मिट्टी, पानी और बयार - जिंदा रहने के आधार’

आरंभ में राज्य सरकार व केंद्र सरकार ने चिपको आंदोलन का खूब दम किया, किंतु 1980 के आते-आते वन विज्ञान के नाम पर वनों की हजामत करने वाले वनविभाग और सरकार को होश आया। 1980 में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने चिपको आंदोलन का सम्मान करते हुए एक हजार मीटर से अधिक ऊंचाई वाले क्षेत्र में हरे पेड़ों के व्यापारिक कटान पर रोक लगाने का निर्णय लिया, जो आज तक जारी है। उसके बाद वन नीति में परिवर्तन हुआ। जिस तरह उस वक्त वनों के प्रति सरकार की व्यापारिक दृष्टि बदल कर पर्यावरण चेतना जगाने में सहायक हुई उसी तरह आज नदी, खनन एवं अन्य संसाधनों की लूट रोकने की नई चेतना लाने की जरूरत है। नदियां विक्रय की वस्तु नहीं अपितु स्थानीय लोगों की आजीविका एवं पूरे देश और दुनिया के स्वच्छ पानी व पर्यावरण की स्रोत हैं। इससे हिमालय बचेगा और हिमालय बचेगा तो देश और दुनिया बचेगी। इस आपदा से यही सबक लिया जा सकता है।

वनों का सामुदायिक प्रबंधन

पुराने समय से उत्तराखंड के गांव समुदाय के लोग बरसात के तीन-चार महीने अपने गोचर, पनघट व सिविल सोयम के वनों को घास के लिए बंद रखते आए हैं। निगरानी के लिए समुदाय/पंचायत के अपने चौकीदार होते हैं, जिन्हें अनाज के रूप में पारिश्रमिक दिया जाता है। शरदकाल आरंभ हो पर जब बंद वन खुलता है तो सबको समानता के आधार पर घास कटाई का अधिकार होता है। सबको बराबरी का हिस्सा मिलता है। प्रबंधन के अपने नियम हैं, नियम तोड़ने व चोरी करने वालों पर दंड का प्रावधान होता है। इससे भले ही पशुपालन को शरद काल के लिए सूखे चारे

का प्रबंध हो जाता है, किंतु प्रकृति संरक्षण पर आपदा रोकने का यह अप्रत्यक्ष प्रबंधन है। बरसात में जब जोर की बारिश होती है, उन दिनों घास व झाड़ियों पूरी जमीन में समा जाती हैं। न भूक्षरण होता है, न भूस्खलन, न बाढ़ आती है। यदि जमीन खाली हो तो बारिश से

भूक्षरण व भूस्खलन होता है। पकी घास के बीज भी धरती में फैल कर अगली फसल तैयार करते हैं। इसी तरह का सामुदायिक वन संरक्षण/प्रबंधन बांज-बुराश के आरक्षित वनों में भी ग्रामीणों द्वारा किया जाता है। बांज के जंगलों को तीन से लेकर पांच तक हिस्सों में बांटा जाता है। सीजन अनुसार चारे की कटाई के लिए इस वन का एक-एक हिस्सा फसल चक्र की तरह खुलता है। पहले साल जो हिस्सा खुलेगा उसका नंबर घूमकर पांचवें साल आएगा। हर एक हिस्से को आराम करने का पूरा-पूरा अवसर मिलता है और लोगों की जरूरतें पूरी होती हैं। बांज की पत्तियों का चारा प्रबंधन भी गांव की समितियां करती हैं, सबको बराबर हिस्सा मिलता है। कई गांवों में बकायदा तराजू से भी चारा तौला जाता है। तेज बारिश में यह वन संरक्षण आपदा प्रबंधन का जोरदार सामुदायिक तरीका है। टिहरी गढ़वाल के प्रतापनगर, चंबा, भिलाना एवं थत्यूड़ आदि विकासखंडों के सैकड़ों-हजारों गांव में यह प्रबंध देखा जा सकता है। वन पंचायतें भी इस तरह के वन संरक्षण में लगी हैं।

डेरें बदल का पर्यावरण संरक्षण

पहले उत्तराखंड के गांवों के लोग 12 महीने एक ही स्थान पर नहीं रहते थे। बरसात में वे अपने पशुओं को लेकर डाँडा- यानी ऊंचाई वाले सुरक्षित स्थानों में चले जाते थे, घाटियों में रहना खतरनाक माना जाता था। इससे उन्हें और प्रकृति दोनों को फायदा होता था। गांव के आस-पास के गोचर पनघट और जंगलों की छुट्टी यानी धरती को आराम मिलता था। वहां घनी घास उग जाती थी और पशुओं के खुरों से पूर्व में छिली जमीन के घाव भी भर जाते थे। सर्दियों से पूर्व जब गांव लौटते थे तो आठ महीने के ऊंचाई वाले डाँडा को फिर इस तरह का आराम मिल जाता था, वहां पुनः अच्छी हरियाली अगले साल के लिए संचय हो जाती थी। प्रकृति पोषण लेने और धरती को आराम देने की मानव की यह जोरदार परंपरा थी। आज भी अनेक स्थानों पर यह परंपरा कायम है। हिमालय के संरक्षण की स्थानीय लोगों की यह अनोखी पहल है। घुमंतू भेड़-बकरी पालक व भैंस पालक आज भी इस पद्धति को आजीविका

की तरह अपनाते हैं।

बारहनाजा से रुकता भूक्षरण

पहाड़ों के तेज ढालों स्थित सीढ़ीदार खेतों में बरसात में एक ही फसल (मोनोकल्चर) हो या खेत खाली हों तो निश्चित बात है तेज बारिश से मिट्टी बहेगी, गलियां बनेगी, भूस्खलन होगा और बाढ़ आएगी। पहाड़ के किसानों के पारंपरिक ज्ञान को भले ही आज का कृषि विज्ञान मान्यता न दे किंतु यहां के किसानों ने अपनी सूझ-बूझ से मिट्टी की इस समस्या से बचने के लिए फसलचक्र विकसित किए हैं, जिसे “सार” पद्धति कहते हैं। “सार” एक क्षेत्र में बहुत से खेतों की पट्टी को कहते हैं।

बरसात में एक “सार” में बारहनाजा होता है तो दूसरी सार में झंगोरा, कौनी एवं धान आदि उगाया जाता है। बारहनाजा यानी बारह तरह के अनाज। लेकिन इसमें अनाज

नहीं अपितु दलहन, तिलहन, साग व मसाले भी हैं जो मिश्रित रूप से उगाए जाते हैं। मंडु आ (रागी) बारहनाजा का मुखिया है, अन्य मुख्य फसलें हैं - रामदाना, कुट्टु, ज्वार, राजमा, गाथ, (कुलथ) भट्ट, नौरंगी, उड़द, मूंग, भंगजीर, तिल आदि। मिश्रित फसलें

मिश्रित फसलें अलग-अलग ऊंचाई की होती हैं, बारिश की तेज बूंदें इन फसलों की पत्तियों व टहनियों से टकराकर फव्वारे की तरह जमीन में उतारती हैं और फसलों की घनी जड़ें उन्हें धीरे-धीरे जमीन में समा लेती हैं। जड़ें जमीन को अच्छी तरह बांधें रखती हैं, फलस्वरूप भूक्षरण व भूस्खलन रोकने का यह जोरदार तरीका है।

अलग-अलग ऊंचाई की होती हैं, बारिश की तेज बूंदें इन फसलों की पत्तियों व टहनियों से टकराकर फव्वारे की तरह जमीन में उतारती हैं और फसलों की घनी जड़ें उसे धीरे-धीरे जमीन में समा लेती हैं। जड़ें जमीन को अच्छी तरह बांधें रखती हैं, फलस्वरूप भूक्षरण व भूस्खलन रोकने का यह जोरदार तरीका है। फसलों के वक्त ही नहीं अपितु फसल कट जाने के दो-तीन महीने तक भी फसलों की जड़ें मिट्टी को बांधें रखती हैं। वर्षा आधारित ये फसलें किसानों की खाद्य व पोषण सुरक्षा में तो महत्वपूर्ण हैं ही साथ-साथ मिट्टी के संरक्षण व मिट्टी को उर्वर बनाने में भी सहायक हैं।

बारहनाजा और पौष्टिक मोटे अनाज की फसलें जलवायु परिवर्तन के प्रभावों को कम करने में सहायक हैं, ये फसलें सूखा झेलने में बहुत सक्षम हैं। ये फसलें भविष्य

की आशा की किरणें हैं।

पहाड़ों में पत्थर मिट्टी एवं लकड़ी के मेल से बनने वाले पारंपरिक घर यहां का बहुमूल्य वास्तुशिल्प है, ये घर बड़े-भूकंपों को भी सहन कर सकते हैं। यहां के वास्तुशिल्प से सबक लेने की जरूरत है। ये घर सर्दी व गर्मी के भी अनुकूल हैं।

हिमालय के सतत विकास का एजेंडा

उच्च हिमालय में मौज-मस्ती के लिए बड़ी संख्या में बनने वाले हैलीपेड एवं हवाई उड़ानों पर रोक लगनी चाहिए, क्योंकि इनके लगातार भारी शोर एवं ईंधन द्वारा छोड़े गए कार्बन से हिम शिखरों को भारी नुकसान पहुंच रहा है। उच्च हिमालय के पशु-पक्षियों पर भी बुरा प्रभाव पड़ रहा है।

प्लास्टिक की बोतलों में पैक पानी, शीतल पेय की बोतलें एवं जंक फूड के कचरे से यहां भारी प्रदूषण बढ़ रहा है, इस पर तुरंत रोक लगाई जाए। यहां के धारे-नौले स्त्रोतों का पानी अब भी बहुत शुद्ध है, प्राकृतिक मिनरलों से भरा है। पानी लाने-ले जाने के लिए धातुओं के बर्तनों का इस्तेमाल होना चाहिए। प्याऊ की पुरानी परंपरा भी लौटाई जाए।

सार्वजनिक परिवहन सेवा को और सुविधाजनक बनाया जाए। व्यक्तिगत प्रदूषणकारी मौज-मस्ती वाली कारों को हतोत्साहित किया जाए, इनके निर्माण पर रोक लगाई जाए और टैक्स बढ़ाया जाना चाहिए। सार्वजनिक बस एवं जीपों पर टैक्स कम कर सुविधाजनक बनाया जाए।

जब दिल्ली में सीएनजी परिवहन जरूरी घोषित है तो संवेदनशील हिमालयी क्षेत्र में प्रदूषण फैलाने वाला परिवहन क्यों ? हिमालय क्षेत्र में सीएनजी के लिए कदम उठाए जाने चाहिए।

हिमालयी क्षेत्र के राज्यों में निःसंदेह जंगलों का प्रतिशत अधिक है। उत्तराखंड में लगभग 65 प्रतिशत भूमि पर अब भी वन हैं। यहां के वन शुद्ध हवा और शुद्ध पानी के प्राकृतिक कारखाने हैं। आज ग्रीन बोनस पर विचार हो रहा है। इसलिए राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मिलने वाले ग्रीन बोनस पर यहां के समुदायों का पहला अधिकार है। यहां पर समुदाय के लोग बड़ी मात्रा में अपने-अपने जंगल पाल रहे हैं। उन्हें प्रोत्साहन दिया जाए।

आग से हिमालय के जंगलों को बचाया जाए।

वन विभाग व ग्रामीणों को अग्नि सुरक्षा की जिम्मेदारी दी जाए।

जलवायु परिवर्तन के कारण मौसम का संतुलन बिगड़ रहा है। कभी अतिवृष्टि तो कभी भारी सूखे से यहां के किसानों की फसलें चौपट हो जाती हैं। जलवायु परिवर्तन की सबसे बड़ी मार किसानों पर पड़ रही है। किसानों की खाद्य सुरक्षा और आजीविका पर बदलते मौसम का बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा है। यहां के किसान बारहनाजा (मिश्रित) फसलें, पौष्टिक मोटा अनाज आदि उगा कर जलवायु परिवर्तन के खतरे कम कर रहे हैं।

जंगली जानवर खासकर सुअरों और बंदरों की खाने की बदलती आदतों के कारण किसानों की फसलों की तबाही हो रही है। दिन को बंदर और रात को सुअरों की टेलियां फसलों को उजाड़ देती हैं, जिससे किसानों को भारी नुकसान उठाना पड़ता है। बंदरों की संख्या घटाने के लिए नसबंदी कार्यक्रम जैसे उपाए किए जाएं और सुअरों को मारने के नियमों को सरल बनाया जाए।

ग्राम स्तर पर जैव विविधता समितियों का गठन तेजी से किया जाना चाहिए और स्थानीय संसाधनों का पहला अधिकार समुदाय का होना चाहिए। समुदाय की अनुमति के बिना किसी संसाधन की लूट नहीं होनी चाहिए। बहुत से गांव ऐसे हैं जहां भूगर्भीय पर्यावरणीय कारणों से सड़क पहुंचानी संभव नहीं है। उन्हें संपर्क के लिए रज्जू मार्ग से जोड़ा जाना चाहिए। खेती योग्य जमीन का दुरुपयोग अन्य गैर कृषि कार्यों के लिए नहीं किया जाना चाहिए। इस तरह की आपदा से पूर्व चेतावनी का सूचना तंत्र विकसित किया जाना चाहिए। सामुदायिक रेडियो प्रणाली को मजबूत किया जाना चाहिए।

ऊर्जा की जरूरतें पूरी करने के लिए पहाड़ों में सौर ऊर्जा एवं पवन ऊर्जा पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। जलविद्युत के लिए घ्राट (पन चक्की) मॉडल की छोटी-छोटी जल विद्युत योजनाएं युद्ध स्तर पर चलाई जानी चाहिए।

छोटे-छोटे बांधों के नाम पर सुरंग आधारित बांधों पर पूर्ण रोक लगानी चाहिए। पहाड़ की हर छोटी-बड़ी नदी का जलागम प्रबंध, पारंपरिक ज्ञान एवं विज्ञान के आधार पर होना चाहिए। नदी के तटों एवं नदी के तल पर विशेष ध्यान देकर सुरक्षा योजना बननी चाहिए। नदी के स्वभाव/प्रभाव का सतत अध्ययन कर योजनाएं चलाई जानी चाहिए। यह कार्य मनरेगा में भी हो सकता है।

बराबरी का सपना

देवानूर महादेव

छुआछूत, जाति और सांप्रदायिकता के घाव नासूर बने हुए हैं। हमारा विवेक और हमारी संवेदना भी कुंद हो गए हैं। जाति के अन्याय के खिलाफ संगठित होते हुए ध्यान रखना होगा कि हम जाति विनाश और बराबरी की ओर बढ़ें। पैसे के नंगे नाच में आजादी के आंदोलन के सपने लुप्त होने लगे हैं। बराबरी, विकेंद्रीकरण, स्वावलंबन और सबको रोजगार पर आधारित नए भारत का निर्माण करना ही होगा।

मशहूर कन्नड़ साहित्यकार देवानूर महादेव मैसूर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पद से सेवानिवृत्त हुए हैं। समाजवादी आंदोलन और दलित संघर्ष समिति से जुड़े श्री महादेव 'सर्वोदय कर्नाटक' नामक दल के अध्यक्ष भी रहे हैं। उन्हें 2012 में एक दिन के लिए कन्नड़ अखबार 'प्रजावाणी' का संपादक बनाया गया था। उस मौके पर लिखे इस संपादकीय लेख का कन्नड़ से अंगरेजी अनुवाद राजेंद्र येन्नी ने किया है और अंगरेजी से हिंदी अनुवाद वार्ता टीम ने किया है।

वे एक अंगारे की तरह दहक रहे थे। जब वे बोलते थे, तो उनके शब्दों की गरमी महसूस की जा सकती थी। वे थे प्रोफेसर एम मरीस्वामी। उनका जन्म अछूत हिंदू के रूप में हुआ था और मृत्यु एक बौद्ध के रूप में हुई। जब वे जिंदा थे तो एस तुकाराम ने उनका एक साक्षात्कार लिया था। उसे पढ़ने से लगता है जैसे दलितों की आंतरिक दुनिया सामने आ गई है।

इस साक्षात्कार में एक घटना का बयान किया गया है जो हर वक्त मेरे दिमाग में घूमती रहती है। उस वक्त मरीस्वामी एक हाईस्कूल शिक्षक थे। वे एक लिंगायतों (कर्नाटक की उच्च जाति) की गली में दूसरे गांव को जाने के लिए बस का इंतजार करते बैठे हुए थे। कल्लबल्ली मदप्पा नाम बूढ़ा आदमी अपने घर से बाहर आया और उनकी तरफ इशारा करते हुए अपने बच्चों से पूछा, "वहां कौन आदमी बैठा है?" जब उसके बच्चों ने बताया कि "वह टोड्डु मड्य्या का बेटा मास्टर है" तो वह गालियां देने लगा। मरी स्वामी को डांटते हुए कहा, "ए, चलो उठो यहां से"। उस घटना को याद करते हुए मरीस्वामी कहते हैं-

"हम तब सोचते थे कि हमें ऐसी हालत में ही जीना है। बाबासाहेब आंबेडकर की किताबें पढ़ने के बाद हमको समझ में आया कि यह एक 'घाव' है। नहीं तो उसके पहले हमने महसूस ही नहीं किया था कि हमें चोट पहुंचाई जा रही है।"

घायल भारत

भारत ऐसी घायल अवस्था में पड़ा है। परंतु यह अहसास नहीं किया जाता है कि इसके घाव भी 'घाव' हैं। छुआछूत, जाति और सांप्रदायिकता के घाव पक रहे हैं, उनका जहर फैल रहा है, भारत पागल हो गया है। इस घाव, इस पागलपन को अक्सर समाज में संस्कृति और परंपरा के रूप में पेश किया जाता है। यहां पैदा होने वाले हर व्यक्ति की आधी क्षमता इस पागलपन से लड़ने में चुक जाती है। यदि वास्तव में यह अहसास होगा कि यह एक घाव है और पागलपन है तो समाज महसूस करेगा कि- "अछूत समुदाय, जिसे गांव से बाहर फेंक दिया गया है, ने जात के कारण किसी को मारा नहीं है, किसी को पैरों से कुचला नहीं है, किसी का अपमान नहीं किया है। इसलिए वह हमारे उपहास का नहीं, सम्मान का पात्र है।"

तब यह भी समझ में आएगा कि अछूतों को गांव से बाहर करने के जो एक सैकड़ा कारण हैं, उनमें एक यह भी है कि जो मनीषी चार वर्णों के विभाजन से सहमत नहीं हुए और जिन स्वाभिमानी व्यक्तियों ने शूद्र, यानी सेवक, बनने से इंकार किया, उन सबको अछूत बना दिया गया और गांव के बाहर कर दिया गया। तब बाहर फेंक दिए गए और अब गरीबी व अपमान में जीते इस समुदाय का गरिमापूर्ण पिछला इतिहास भी दिखाई देने लगेगा।

यदि छुआछूत और भेदभाव के शिकार लोग सोचते हैं कि यह दर्द 'जिंदगी का हिस्सा' है, तब यह दर्द भौतिक और शारीरिक लगेगा। लेकिन जब हमें समझ में आता है कि ये दर्द और भेदभाव 'घाव' है तो वे आत्मिक बन जाते हैं और हर वक्त हमें यातना देते रहते हैं। तब, इस यातना को बरदाश्त न कर पाने पर, कई लोग इस तथ्य को छुपाने की कोशिश करते हैं कि वे अच्छे हैं। जब वे अपने हालत को वैचारिक धरातल पर देखने की दार्शनिक क्षमता हासिल करते हैं, तब अपनी मुक्ति के लिए बैचैन हो जाते हैं। तब यह मुक्ति केवल उनकी नहीं होगी, पूरा समाज मुक्ति की दिशा में बढ़ने लगेगा।

इलाज की जरूरत

इसी संदर्भ में पहले एक मौके पर मैंने कहा कि किसको इलाज की जरूरत है? जो विश्वास करते हैं कि ऊंच-नीच का भेद ही संस्कृति है, उन्हें सांस्कृतिक इलाज की जरूरत है। जो मानते हैं कि भेदभाव वाले रिवाज हमारी परंपरा है, उन्हें सामाजिक इलाज की जरूरत है। जो समुदाय नीचे इतने कमजोर हैं कि गरीबी से ऊपर नहीं

उठ पा रहे हैं, उन्हें आर्थिक इलाज की जरूरत है। उसी मौके पर मैंने कहा था कि दलितों को खुद को संगठित करना चाहिए। उन्हें सबसे पहले अपनी हीनभावना की बीमारी से उबरना चाहिए और ऊंची जाति के लोग अपनी श्रेष्ठता के भ्रम के पागलपन में जो हमले कर रहे हैं उनसे बचते हुए उनके पागलपन का भी इलाज करना चाहिए। अर्थात् मेरा विचार यह था कि एक संगठन को वही काम करना चाहिए जो एक मानसिक चिकित्सालय में डाक्टर का होता है। यदि एक जाति के संगठित होने से जात-पात, उसके रिवाज तथा भेदभाव और कड़े होते हैं, तो यह हमारे संविधान की भावना के अनुरूप नहीं होगा। इसके बजाय यदि जाति संगठन जाति आधारित रिवाजों और भेदभाव को कमजोर करता है और इस दिशा में आगे बढ़ता है तो इसे एक नैतिक समर्थन अपने-आप मिल जाता है।

संवेदना का कोढ़

जाति के कारण हमने क्या-क्या नहीं खोया? चलो संपत्ति, सम्मान, पद, सुविधाओं की बात छोड़ दो। जाति में जन्म लने के कारण एक व्यक्ति न्याय और सत्य का अपना विवेक खो बैठता है। जाति आधारित रिवाजों के कारण अन्याय अन्याय नहीं नजर आता है। व्यक्ति अपनी अंतरात्मा को अंधा बना देता है। जो उसकी जाति नहीं है उनके सुख और दुख उसे छूते भी नहीं है। कभी-कभी तो दूसरी जात के आदमी की खुशी से उसे तकलीफ होने लगती है। उसके कष्टों से खुशी होने लगती है। कुछ मिलाकर, उसकी संवेदना को कोढ़ हो जाता है। उसमें अनुभूति खतम हो जाती है। सोचो, जाति के कारण हम क्या-क्या खो बैठे हैं? हम बहरे और बीमार हो गए हैं। सारे नुकसानों में मुझे यह सबसे बड़ा नुकसान लगता है। इसलिए जाति से मुक्त होना है हमारे अंदर न्याय व सत्य के विवेक को बचाने के लिए, हमारी संवेदना को बचाने के लिए, इंसान के रूप में बरताव करने के लिए। हमें अपनी मुक्ति के लिए जाति से स्वतंत्र होना है। कम से कम अपने बच्चों में इसके बीज बोना है, जिन्हें भविष्य में अपनी जिंदगी जीना है।

इसलिए यह शिक्षा का हिस्सा भी बनना चाहिए।

बराबरी की नदी की ओर

हम ऐसी हालत में पहुंच गए हैं, जहां जाति प्रथा के घावों से घायल और उसकी यंत्रणा से गुजरते दलितों को जागृत करने के लिए हमें उनकी जाति की बात करनी पड़ती है ताकि उस दिशा में कम से कम कुछ किया जा सके। यदि नीचे की जातियां जागृत होती हैं और उनके साथ हुए अन्याय का विरोध करने के लिए खड़ी होती है, तो इससे जाति प्रथा के बंधन कमजोर हो सकते हैं। अपनी जाति की पहचान को बनाने और जागृत करने की इस प्रक्रिया पर आजकल बहुत बहस हो रही है। पर हमें इस पर भी बहस करना चाहिए कि किसी भी क्षेत्र में यह पहचान कितनी और किस मकसद से होनी चाहिए। दरअसल जब हम जाति के मुद्दे पर इकट्ठे होते हैं, संगठित होते हैं और

संघर्ष करते हैं तब हमें विवेक, सावधानी और जागरूकता रखनी होगी कि अंततः हमको जाति से मुक्त होना है। यह एक संकरी दीवार पर चलने जैसा है। जाति की पहचान आधारित संगठन किसलिए? समानता व विकेंद्रीकरण के लिए और भेदभाव के खातमे के लिए। हमारे कदम इस

दिशा में होने चाहिए। जाति को लेकर कोई भी कदम उठाते समय यह अहसास होना चाहिए कि हमारी धारा गैरबराबरी की शिकार है और हमारा उद्देश्य बराबरी की नदी में शामिल होना है। इसे उन दूसरी धाराओं में जुड़ना होगा जिनकी इसी तरह की आकांक्षा है और जो बराबरी की नदी की तरफ बहती हैं। नहीं तो यह कहीं ओर भी जा सकती है। इसे ही सब कुछ मान लेने से यह अतिवाद में जा सकती है और दिशा भटक सकती है। यदि आदिवासियों, महिलाओं, दलितों, अल्पसंख्यकों, उपेक्षित समुदायों और किसानों की लड़ाई लड़ने वाले समतावादी आंदोलन यह चेतना नहीं रखेंगे तो वे अलगाव को बढ़ावा देंगे। आज की जरूरत है कि बराबरी की अकांक्षा रखने वाले सारे संगठन इस चेतना के साथ काम करें।

क्या यही सपनों का भारत है

आज यह बहुत जरूरी है, क्योंकि आज भारत जिस दिशा में और जिस गति से जा रहा है, उसमें ऐसा लगता है कि जिन्होंने भारत की आजादी की लड़ाई लड़ी, उनके सपने मानो उपहास की चीज बन गए हैं। आज कोई बराबरी की बात करता है तो लोग हंसते हैं। जब आप कहते हैं कि अमीर और गरीब के बीच की खाई कम होना चाहिए, तो वे और ज्यादा हंसते हैं। तब भारत क्या चाहता है? मुंबई में मुकेश अंबानी के मकान में सत्ताईस मंजिलें, तीन हेलीपेड, नौ लिफ्ट, हैंगिंग गार्डन, नाच कक्ष और कई तरह के वातानुकूलित कमरे, जिम और 600 नौकर हैं। इस मकान के आसपास झोपड़पट्टी के हजारों टूटे-फूटे घर हैं। क्या भारत ऐसा होना चाहिए? एक सौ बीस करोड़ भारतीयों में केवल सौ अमीर व्यक्ति भारत की पूरी राष्ट्रीय आय के चौथाई हिस्से के मालिक हैं। हम कहा जा रहे हैं? बात विलासिता

एक संगठन को वही काम करना चाहिए जो एक मानसिक चिकित्सालय में डाक्टर का होता है। यदि एक जाति के संगठित होने से जात-पात, उसके रिवाज तथा भेदभाव और कड़े होते हैं, तो यह हमारे संविधान की भावना के अनुरूप नहीं होगा। इसके बजाय यदि जाति संगठन जाति आधारित रिवाजों और भेदभाव को कमजोर करता है और इस दिशा में आगे बढ़ता है तो इसे एक नैतिक समर्थन अपने-आप मिल जाता है।

और संपत्ति तक खतम नहीं होती है। अपने (उन्मत्त) तांडव में पैसा हर चीज को खरीदता है और हर चीज को नीलामी पर लगाता है। वह किसी को नहीं छोड़ता है। जनप्रतिनिधि, विधायक, सांसद, मंत्री और मानों इतना काफी नहीं है, वह लोकतांत्रिक व्यवस्था को उलट देता है और न्यायपालिका, कार्यपालिका, मीडिया सबको अपनी मुट्टी में लेने लगता है।

डर लगता है कि कहीं भारत को आजादी देते समय चर्चिल के कहे गए ये शब्द सच न होने लगे। उसने कहा था,

“ भारतीय नेताओं की काबिलियत ज्यादा नहीं है, उनकी जबान मीठी और दिल छोटे हैं। वे सत्ता के लिए आपस में लड़ेंगे और भारत राजनैतिक झगड़ों व उठापटक में खो जाएगा। ”

कल के भारत का निर्माण

निजी संपत्ति और कंपनियों की संपत्ति पर एक सीमा तय होनी चाहिए और इससे ज्यादा होने पर उसे सार्वजनिक संपत्ति बना देनी चाहिए। हमें पर्यावरण संरक्षण की ऐसी व्यवस्था बनाना चाहिए जिसमें हवा, पानी और प्रकाश जैसे प्राकृतिक संसाधन देश के लिए उपलब्ध रहें। आज शहरों को सांस लेना भी मुश्किल हो रहा है। गांवों में चलने की ताकत नहीं है। हमारा अन्नदाता किसान आत्महत्या कर रहा है। हरेक के लिए बचने का केवल एक ही तरीका है- हमें बराबरी के बीज एक बार फिर बोना होंगे। अमीर-गरीब के बीच के फरक को कम करने की उम्मीद को सींचना होगा। डूबते हुए इन शब्दों को हमें बार-बार दोहराना होगा - विकेंद्रीकरण, सबको रोजगार, स्वावलंबन। जब छोटे बच्चे इन पुराने डूबे हुए शब्दों को बोल सकेंगे, तब ये शब्द फिर जिंदा हो सकते हैं। सबसे पहले हमें शिक्षा व्यवस्था में भेदभाव खतम करना चाहिए और समान-साझा स्कूल प्रणाली के जरिये ऐसे पाठ्यक्रम तैयार करना चाहिए। इसके साथ हम कल के भारत का निर्माण कर सकेंगे।

53, 11वां क्रॉस, नवीली रोड,
कुवेंपू नगर, मैसूर-23, कर्नाटक फोन: 09060317065
mahadevanoor@gmail.com

लिखित शब्द की लुगदी

अलका सरावगी

पेंगुइन द्वारा
वेंडी डोनिगर की
किताब को वापस
लेना
कट्टरपंथियों के
आगे समर्पण है।
हिंदू धर्म तो शुरु
से काफी उदार
और कई धाराओं
को लेकर चलता
रहा है।
असहिष्णुता हिंदू
परंपरा के
खिलाफ है। पाबंदी
की जगह खुली व
स्वस्थ बहस होनी
चाहिए।

अलका सरावगी हिंदी
की नई पीढ़ी की चर्चित
उपन्यास लेखिका हैं।
उनके उपन्यास
'कलिकथा वाया
बायपास' को साहित्य
अकादमी पुरस्कार मिला
है।

पता:

2/10, शरद बोस रोड,
कोलकाता-700020

alkasaraogi
@gmail.com

दुनिया के सबसे बड़े और प्रतिष्ठित प्रकाशकों में से एक पेंगुइन इंडिया ने अमेरिकन विदुषी वेंडी डोनिगर की आठ सौ पृष्ठों की पुस्तक 'द हिंदू-एन आल्टरनेटिव हिस्ट्री' (2009) पर एक जिले की अदालत में पिछले दो साल से चलते मुकदमे में हिंदुत्ववादियों से समझौता कर लिया है। वेंडी डोनिगर की पुस्तक को पेंगुइन अपनी प्रकाशन सूची से हटाकर सारी प्रतियां बाजार से वापस लेकर 'पल्प' यानी लुगदी में बदल डालेगा। यह हताशाजनक समाचार भारत में कट्टरपंथियों की बढ़ती ताकत और हौसलों का एक नया नमूना है। आश्चर्य की बात यह भी है कि बौद्धिक स्वतंत्रता की हर कीमत पर रक्षा करने की परंपरा वाला एक ताकतवर व संपन्न प्रकाशन समूह हाईकोर्ट तक भी अपील न कर चंद फिरकापरस्तों के आगे इस तरह घुटने टेक दे। अरुंधती राय ने अपनी प्रकाशक पेंगुइन को लिखे पत्र में उत्तेजित स्वर में पूछा कि आखिर वे किस चीज से इस कदर डर गए, जबकि न कोई फतवा था, न सरकारी पाबंदी और न ही किसी अदालत का आदेश।

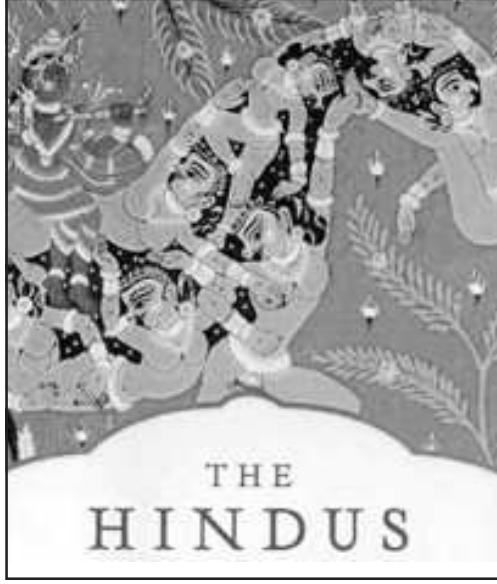
एक बड़े प्रकाशक के इस तरह रण छोड़कर भाग लेने पर हम खिन्न हो सकते हैं, पर बौद्धिक स्वतंत्रता के लिए लड़ने की जिम्मेदारी सिर्फ उनकी नहीं है। पिछले पच्चीस वर्षों से इस देश में केंद्र और राज्यों की सरकारें इसी तरह बंद दिमागवाले गुटों की मिजाजपुरसी के लिए लेखकों की अभिव्यक्तियों पर पाबंदियां लगाती आई हैं। सलमान रशदी के उपन्यास 'सेटनिक वर्सेज' पर पाकिस्तान के भी पहले राजीव गांधी की सरकार ने प्रतिबंध लगाया था। तसलीमा नसरीन को बंगाल की कम्युनिस्ट

सरकार ने कुछेक दिनों के विरोध के आगे हारकर फिरकापरस्तों के डर से अपनी शरण से खदेड़ दिया था। रामायण पर ए.के. रामनुजम के विद्वतापूर्ण लेख और शिवाजी पर विद्वान जेम्स लैन की पुस्तक को इन्हीं कारणों से हटा दिया गया।

जिस हिंदू धर्म में चारवाक सरीखे नास्तिक, राधा-कृष्ण के परकीया प्रेम और खजुराहो व कोणार्क की मूर्तिकला के लिए जगह संभव थी, उसकी कौन सी धोई-पोंछी, इकहरी, अकल्पनाशील छवि हिंदू कट्टरपंथ प्रायोजित करना चाहता है? वर्णव्यवस्था जैसी खामियों के बावजूद हिंदू धर्म एक अत्यंत उदार, विविधतापूर्ण, बहुस्तरीय और बहुआयामी धर्म है, जिसमें वेंडी डोनिगर के शब्दों में, 'अपने पर हंसना और व्यंग्य करना' संभव रहा है। 'शिक्षा बचाओ आंदोलन समिति' की ओर से चौरासी साल के दीनानाथ बतरा द्वारा किए गए मुकदमे में वेंडी डोनिगर पर तथ्यों और मानचित्रों की भूलों और मनचाही व्याख्या द्वारा हिंदू देवताओं और स्वतंत्रता सेनानियों के अपमान का आरोप लगाया गया है।

दुनिया में इस्लाम को चोट पहुंचाने या अपमानित करने को लेकर जिस तरह के विवाद और बखेड़े होते रहे हैं, उनसे एक तरह से यह निष्कर्ष के तौर पर मान लिया गया है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर किसी समूह की धार्मिक भावनाओं या संस्कृति को ठेस पहुंचाने का हक नहीं है। इसी निष्कर्ष को सबसे बड़ी हार मानते हुए 'द हिन्दू' (12 फरवरी 2014) में केनन मलिक कहते हैं सांस्कृतिक दर्द और विवाद से बचना ही अब हमारी प्राथमिकता बन गई है।

यदि हमें किसी की बातों से चोट पहुंचती हो, तो हम उसकी बोली को ही बंद करवा दें या उसके सोच, विचार और धारणाओं की लुगदी बनाना चाहें, तो क्या जनतंत्र बचेगा? हम एक अत्यंत कबीलाई, अनुदार और हिंसक समाज बनाने की ओर बढ़ रहे हैं। वैंडी डोनिगर की स्थापनाओं से बेशक हमें आपत्ति हो सकती है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हम उन पर प्रतिबंध ही लगवा दें।



सोच नहीं पाती हैं। इस माहौल में न अपने ऊपर हंसना संभव है, न अलग-अलग दृष्टिकोण से किसी संस्कृति को समझने की कोशिश करना। किसी दूसरे की टांग खींचना तो गुनाह ही है। ऐसे माहौल में हर लेखक कलाकार पर यह दबाव पैदा होगा कि वह बहुत सतर्क होकर लिखे कि किसी की भावनाओं को आघात न पहुंचे। पर जाहिर है कि एक लगातार असहिष्णु और आक्रामक होता समाज हर जगह हमलावर भीड़ तैयार कर लेगा।

अपनी आपत्ति हम आज की सैकड़ों भुजाओं वाली मीडिया की दुनिया में आसानी से दर्ज करवा सकते हैं।

ऐसा लगता है कि हिंदूवादी संगठनों का एजेंडा एक स्वस्थ प्रतिवाद या बहस न होकर अपनी ताकत का परीक्षण करना और उसे सेंसर की तरह इस्तेमाल करना है। वे मुस्लिम तुष्टीकरण के बरक्स हिंदू तुष्टीकरण चाह रहे हैं और देश की तमाम पार्टियां अपने राजनैतिक फायदों से इतर कुछ

हाल में चंडीगढ़ में हुए एक साहित्य सम्मेलन में एक युवा गुजराती लेखक से पूछा गया कि क्या वे अपने समय पर अपनी तरह से बेधड़क लिख सकते हैं? युवा लेखक ने अनमने तरीके से कहा कि दबाव बहुत है। राजनीतिक रूप से सही ('पोलिटिकली करेक्ट') होना लगभग अनिवार्य हो गया है। शायद पेंगुइन के इस फैसले के पीछे इसी तरह के दबाव काम कर रहे हैं।

सामयिक वार्ता दुकानों पर

कोलकाता

राजकमल प्रकाशन पुस्तक केन्द्र
(भारतीय भाषा परिषद भवन),
36 ए, श्रेक्सपीयर सारणी
कोलकाता- 700017

वाराणसी

सर्वोदय साहित्य भंडार,
प्लेटफार्म नं. 4, वाराणसी कैंट स्टेशन,
वाराणसी

मध्यप्रदेश

दुबे न्यूज एजेंसी,
गोठी धर्मशाला,
रेलवे स्टेशन के सामने,
इंदौर (म.प्र.)

उत्तराखण्ड

अल्मोड़ा किताब घर,
मित्र भवन, गांधी मार्ग,
अल्मोड़ा

दिल्ली

गंगा टाबा बस स्टॉप स्टाल,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली- 110067

वेतन आयोग और किसान

विजय जावधिया

जिस अनुपात में विभिन्न वेतन आयोगों ने सरकारी मुलाजिमों के वेतन बढ़ाए हैं, उसी अनुपात में किसानों-मजदूरों की आय बढ़ानी हो तो 2006-07 में ही धान का समर्थन मूल्य 1890 रु., गेहूँ का 2835 रु. और कपास का 20240 रु. प्रति किंटल करना पड़ता। हमारी व्यवस्था में छिपी घोर गैरबराबरी और नाईसाफी साफ है।

एक समय किसान आंदोलन के शीर्षस्थ नेता रहे विजय जावधिया शेतकरी संघटना की उस धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसने वैश्वीकरण-उदारीकरण का खुलकर विरोध किया है।

पता: सरदार भगतसिंह मार्ग, रामनगर, वर्धा (महाराष्ट्र)

फोन: 09421727998
shetsangh@rediffmail.com

पांच राज्यों के विधानसभा चुनाव को प्रभावित करने के लिए ही डा. मनमोहन सिंह की सरकार ने सातवें वेतन आयोग की स्थापना करने की घोषणा की थी। हर दस साल बाद वेतन आयोग की नियुक्ति की जाती है। हर वेतन आयोग के बाद गांव और शहर, खेती और उद्योग, संगठित और असंगठित क्षेत्रों का आर्थिक अंतर बढ़ता ही जाता है। एक जमाने में, 'उत्तम खेती-मध्यम व्यापार-कनिष्ठ नौकरी', कहा जाता था। परंतु आज हो गया है, 'उत्तम नौकरी, मध्यम व्यापार और कनिष्ठ खेती'। प्रसिद्ध हिंदी साहित्यकारों प्रेमचंद ने खेती का महत्व दो बीघा जमीन के माध्यम से रेखांकित किया था। आज प्रेमचंद होते तो लिखते, "एक सरकारी नौकरी का सवाल है?"

चुनाव में हार को स्वीकार कर कांग्रेस पार्टी ने कहा कि महंगाई के कारण हमारी हार हुई है तो दूसरी तरफ भाजपा और आम आदमी पार्टी भी कहती है कि केंद्र की कांग्रेस सरकार महंगाई पर काबू रख नहीं सकी, इस कारण से ही हमारी विजय हुई है।

रुपए के अवमूल्यन, छठवें वेतन आयोग के बाद हमारे देश में महंगाई की नई परिभाषा होनी चाहिए। साग-सब्जी, गेहूँ-चावल, तेल-दालों के दाम बढ़े तो महंगाई, परंतु शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन, लोहा, सीमेंट, कपड़ा-कागज इन सबके दाम बढ़ते हैं तो क्या यह महंगाई नहीं? संगठित कामगारों के वेतन जिस तरह बढ़ते हैं उसी तुलना में किसान-खेतमजूर-असंगठित मजदूरों की आमदनी क्यों नहीं बढ़नी चाहिए? इस सवाल का जवाब कौन देगा?

गोरे अंग्रेजों की नीतियों ने ही भारतीय किसान को लूटकर उसे पूर्णतः कर्ज में दबा

दिया है, यह स्पष्ट मत समाज सुधारक महात्मा ज्योतिबा फुले ने 'किसान का चाबुक' नामक किताब में दिया है। ज्योतिबा लिखते हैं, "अंग्रेज सरकार ने सरकारी कामगारों की वेतन वृद्धि करके, किसानों पर विभिन्न प्रकार के कर लगाकर उन्हें पूर्ण रूप से कर्ज में डुबा दिया है।"

आज भी स्वतंत्र भारत में यही नीति चल रही है।

प्रथम वेतन आयोग से छठे वेतन आयोग तक सरकारी कर्मचारियों के वेतन में की गई वृद्धि और कृषि मूल्य आयोग द्वारा हर वर्ष घोषित किए गए फसलों के समर्थन मूल्य का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होगा कि गांव का शोषण बढ़ रहा है। आज जो दाम कृषि मूल्य और लागत आयोग घोषित करता है, वे लाभप्रद नहीं हैं। परंतु उन्हें ही महंगाई बढ़ाने के लिए कारण माना जाता है। आज जो महात्मा गांधी राष्ट्रीय रोजगार गारंटी योजना में मजदूरी दी जाती है, उसे ही मुद्रास्फीति बढ़ाने वाली नीति कही जाती है तो फिर किसान-मजदूरों को न्याय कब और कैसे मिलेगा?

भारत सरकार ने सभी सरकारी कर्मचारियों के वेतन तय करने के लिए प्रथम वेतन आयोग की स्थापना 1946 में की थी। पहले इस वेतन आयोग के पूर्व 1934 के पूर्व तय किए गए वेतन दिए जाते थे। प्रथम वेतन आयोग के द्वारा ही इन वेतनों में बदलाव किया गया था। इस प्रथम वेतन आयोग के अध्यक्ष श्रीनिवास वरदाचारी थे। इस वेतन आयोग ने न्यूनतम वेतन तय करने के लिए जीने की जरूरतें पूरी करने के लिए जरूरी वेतन (लिविंग वेज) का सिद्धांत मान्य किया था। यह अवधारणा

इसलिंगटन कमीशन की सूचनाओं से ली गई थी। इस वेतन आयोग ने चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों का वेतन 30 रुपए महीना और तृतीय श्रेणी के कर्मचारियों का वेतन 60 रुपए महीना करने की सिफारिश की थी। इसके पूर्व यह 10 रुपए महीना और 35 रुपया महीना ही थी।

प्रथम वेतन आयोग ने 30 रुपए मूल वेतन में 25 रुपया महंगाई भत्ता जोड़कर 55 रुपए प्रति महीना न्यूनतम वेतन की घोषणा की और 1946 से इसे अमल में भी लाया गया।

इसके दस वर्ष बाद 1957 में अगस्त महीने में दूसरे वेतन आयोग की स्थापना की गई। जगन्नाथ दास को इस आयोग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। दो वर्ष के कार्य के बाद ही इस आयोग ने सरकार को अपनी रिपोर्ट दी थी। इस आयोग की सिफारिशें सरकार ने स्वीकार की थी। आयोग ने 50 प्रतिशत महंगाई भत्ता मूल वेतन में जमा करके 80 रुपए प्रति महीना कम से कम वेतन (70 रु. वेतन + 10 रु. महंगाई भत्ता) तय किया था। सरकार पर करीब 40 करोड़ रुपए का बोझा बढ़ा था।

रघुबीरजी दयाल की अध्यक्षता में 1970 में तीसरे वेतन आयोग की स्थापना की गई थी। इस आयोग ने मार्च 1973 में अपनी रिपोर्ट सरकार को सौंपी थी। सरकारी कर्मचारियों के विभिन्न संगठनों ने वेतन तय करने की पद्धति में बदलाव करने की मांग की थी। जीने के लिए वेतन की जगह, 'जरूरतों के आधार पर वेतन', की मांग की थी। इस मांग को मंजूर करके इस आयोग ने न्यूनतम वेतन 185 रुपए प्रति महीने का सुझाव सरकार को दिया था। भारत सरकार ने कर्मचारी संगठनों से चर्चा करके न्यूनतम वेतन 196 रुपए प्रति महीना करने की घोषणा की थी।

जून 1983 में पी.एन. सिंघल की अध्यक्षता में चौथे वेतन आयोग की स्थापना केंद्र सरकार ने की थी। इस आयोग ने 4 साल के कार्यकाल में सरकार को 3 रिपोर्टें सौंपी थीं।

इस आयोग ने न्यूनतम वेतन और अधिकतम वेतन के समीकरण को बदला। इस आयोग ने न्यूनतम वेतन 750 रुपए प्रति महीना और अधिकतम वेतन 9000 रुपए महीना तय किया था। पहली बार न्यूनतम और अधिकतम वेतन का फरक 12 गुना था।

पांचवें वेतन आयोग की स्थापना 1994 में की गई थी। न्यायमूर्ति एस. रतनवेल पांडीअन इसके अध्यक्ष थे। इस आयोग ने जनवरी 1997 को अपनी रिपोर्ट सरकार को दी थी। सरकार ने उसे स्वीकार कर नए वेतनमान 1 जनवरी 1996 से लागू करने की घोषणा की थी।

इस आयोग ने न्यूनतम वेतन 750 रुपए से बढ़ाकर 2550 रुपए महीना और अधिकतम पगार 30,000 रुपए प्रति महीना करने की सिफारिश की थी। चौथे वेतन आयोग से 3 गुना अधिक वेतन पांचवें वेतन आयोग ने तय किए थे।

भारत सरकार ने छठे वेतन आयोग की नियुक्ति नहीं करने की घोषणा की थी। परंतु कर्मचारी संगठनों के आंदोलन की धमकी के कारण न्यायमूर्ति बीएन श्रीकृष्ण की अध्यक्षता में 2006 को छठे वेतन आयोग की स्थापना की गई। इस आयोग ने भी न्यूनतम और अधिकतम वेतन 1 से 12 का अंतर रखकर न्यूनतम वेतन 7 हजार और अधिकतम वेतन 80000 रुपया तय किया था। पांचवें वेतन आयोग से ढाई गुना से साढ़े तीन गुना अधिक वेतन तय किया गया था।

इन सबसे यह बात स्पष्ट होती है कि 1946 के प्रथम वेतन आयोग से तो 2006 के छठे वेतन आयोग द्वारा वेतन तय करने का एक समान सूत्र था। हर 10 वर्ष में सरकार कर्मचारियों के वेतन में तीन गुना वृद्धि की गई है।

इस पार्श्वभूमि पर यदि कृषि उपज के दाम और कृषि मजदूरों और असंगठित मजदूरों की मजदूरी तय करने में भी इसी पद्धति को स्वीकारा गया तो क्या चित्र होगा?

कृषि मूल्य आयोग ने 1973 में धान का समर्थन मूल्य 70 रुपए प्रति क्विंटल और गेहूं का समर्थन मूल्य 104 रु. प्रति क्विंटल तय किया था। कपास का समर्थन मूल्य 250 रुपए प्रति क्विंटल था। हर दस साल में तीन गुना, इस हिसाब से 1985-86 में धान का समर्थन मूल्य 210 रु. और गेहूं का 315 रु., कपास का 750 रु. होता है। इसी तरह 1995-96 में धान का समर्थन मूल्य 630 रु., गेहूं का 945 रु. एवं कपास का 2250 रु. का होता है। दस वर्ष बाद 2006-07 में धान का समर्थन मूल्य 1890 रु., गेहूं का 2835 रु. और कपास का 20250 रु. प्रति क्विंटल का होता है।

सोने के दाम में वृद्धि, रुपए का अवमूल्यन, वेतन आयोग द्वारा की गई वेतन वृद्धि के पार्श्वभूमि पर तो यह दाम अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं हैं। अमरीका-यूरोप के बाजार में यह दाम नहीं है यह हम मानते हैं। परंतु वहां के किसानों को बहुत अधिक सबसिडी दी जाती है, इस वास्तविकता से हम कब तक इंकार करते रहेंगे? इसी तरह 1970-71 में खेतीहर मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी 3 रु. रोज थी जो 2010 में 243 रु. होना चाहिए। आज ज्यादातर जगह न्यूनतम मजदूरी इससे कम है। जाहिर है कि किसानों और मजदूरों के प्रति एक अन्यायपूर्ण व्यवस्था देश में कायम है।

तमिल समस्या के पीछे क्या है

मेधा पाटकर

श्रीलंका में तमिल अल्पसंख्यकों को दबाने और वंचित करने की प्रक्रिया काफी समय से चल रही है। सत्ता के केंद्रीकरण, भूमि अधिग्रहण और वैश्वीकरण ने समस्या को और बढ़ाया है। इस संघर्ष में लाखों मौतें हो चुकी हैं। विकेंद्रीकरण व वैकल्पिक विकास के साथ ही श्रीलंका का पुनर्निर्माण हो सकेगा।

लंदन में 31 जनवरी 2014 को श्रीलंका की तमिल समस्या पर वैश्विक बैठक में दिया गया वक्तव्य।

मेधापाटकर नर्मदा बचाओ आंदोलन और जनआंदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय की प्रमुख नेता हैं।

फोन:

09423965153

medha.narmada@gmail.com

श्रीलंका में तमिल समुदाय पर हो रहे अत्याचारों के विषय पर लंदन में ब्रिटिश संसद 'हाउस ऑफ कॉमन्स' के एक सभागार में 31 जनवरी को एक वैश्विक बैठक का आयोजन किया गया था। इस बैठक में ब्रिटेन के विभिन्न दलों के सांसदों के अतिरिक्त श्रीलंका, भारत, अमरीका, जर्मनी, बांग्लादेश आदि देशों के सैकड़ों नागरिक उपस्थित थे। श्रीलंका के तमिल सांसद सुरेश प्रेमचंद्रन, तमिल-सिंहली समुदाय के मध्य हुए नस्लीय युद्ध से सर्वाधिक प्रभावित त्रिकोनामाली जिले से आए तमिल नेशनल अलायंस के नागेश्वर और ब्रिटिश तमिल फोरम के अनेक सदस्य भी इस बैठक में शरीक हुए।

सम्मेलन के प्रारंभ में दो मिनट का मौन रखकर संघर्ष के दौरान मृत लाखों व्यक्तियों को श्रद्धांजलि दी गई। गौरतलब है कि सन् 2002 से प्रारंभ हुए युद्ध के अंतिम दौर में ही तकरीबन डेढ़ लाख ऐसे लोग मारे गए थे, जिन्हें युद्ध प्रभावित होने से बचाने के लिए श्रीलंका सरकार द्वारा सुरक्षा क्षेत्र में रखा गया था। लेकिन बाद में बड़ी निर्ममता के साथ बमबारी कर उन्हें मार डाला गया। इतना ही नहीं इस दौरान विद्यालयों, घरों और अस्पतालों पर भी बमबारी की गई थी।

गौरतलब है कि सन् 2006 में युद्धविराम लागू होने के पहले के मृत व्यक्तियों की गिनती तो आज तक सामने आई ही नहीं है। इस प्रक्रिया में लाखों विस्थापित हो गए और आज वे भारत से लेकर जर्मनी तक तमाम देशों में बसे हुए हैं। इसके बावजूद इस घृणित अपराध की सजा भुगतने को शासक वर्ग तैयार नहीं है।

श्रीलंका में हुए हत्याकांडों की आवाज दुनिया भर में रहने वाले तमिल ने जोर-शोर से उठाई। संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव के साथ

कार्य कर चुके ब्रूसे फेनेने ने श्रीलंका के सेना प्रमुख एवं राष्ट्राध्यक्ष महेंद्र राजपक्षे को आरोपी बनाकर अंतरराष्ट्रीय न्यायालय का दरवाजा खटखटाया था। राजपक्षे के अमरीकी व श्रीलंका दोनों देशों के नागरिक होने के नाते उन्हें अमरीकी न्यायालय वर्ष 2007 में हुए जातीय नरसंहार के अपराध में दोषी ठहरा सकते थे। किंतु संयुक्त राष्ट्र संघ के राजनायिकों को दी जाने वाली छूट की आड़ में उन्हें सुरक्षा कवच पहना दिया गया।

श्रीलंका विवाद में यह तय हो गया कि इस सुंदर व समृद्ध टापू देश को सिंहली समाज द्वारा केवल 'अपना' घोषित करना ही एक तरह से आंतक का पर्याय था। ऐसा ही दर्प भंडारनायके के शासन के दौरान सिंहली भाषा कानून की घोषणा के समय भी सामने आया था। लेकिन इस सबके पहले से भूमि के मुद्दे पर बहुसंख्यक सिंहली, तमिलों की खिलाफत करते आए थे। तमिल बहुसंख्यक क्षेत्रों व उत्तर श्रीलंका में भूमि सुधार के नाम पर हुए भूमि बंटवारे में वहां सिंहली परिवारों को बसाया गया। यह एक प्रकार की जबरदस्ती ही थी।

भारत में जिस प्रकार अंग्रेजों ने सन् 1935 में भूमि की कानूनी बंदोबस्ती प्रारंभ की थी ठीक वैसी ही श्रीलंका में भी 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाई गई। इससे तमिल प्रदेश में जातीय समीकरण बदलने लगा और असंतोष भी बढ़ा। सन् 1951 में किसान संगठन ने शांतिपूर्ण आंदोलन कर तमिल चेतना जागृत की और अपनी सामाजिक व सांस्कृतिक विविधता का हवाला देते हुए अल्पसंख्यकों की रक्षा का मामला उठाया। लेकिन इसके बावजूद इस समस्या पर ध्यान नहीं दिया गया। परिणाम यह हुआ

कि सांख्यिकीय स्थितियां बदलती गई। सन् 1901 से 2012 के दौरान जहां पूर्व में तमिलों की जनसंख्या में 537 प्रतिशत की वृद्धि हुई वहीं सिंहलियों की जनसंख्या में 3991 प्रतिशत की वृद्धि हुई। ऐसा ही तिंकोनामाली व अन्य स्थानों पर भी हुआ है।

भारत के उत्तरपूर्व की स्थिति भी यहां से काफी समानता वाली है। हाल ही में महाराष्ट्र में भी प्रांतवाद एक मुद्दा बन गया है। जाहिर है कि ऐसे मामलों में जातीय संघर्ष में वृद्धि होती है। इस प्रक्रिया में भूमि व प्राकृतिक संसाधन ताकतवर वर्ग के हाथ में पहुंच जाते हैं। श्रीलंका में तीन दशकों तक चले युद्ध ने हमें यही तो सिखाया है। दोनों पक्षों द्वारा सन 2006 के युद्ध विराम को तोड़े जाने को भारत जैसे बड़े पड़ोसी देश की मध्यस्थता भी नहीं रोक पाई। अपनी विफलता के बावजूद हमने युद्ध का समर्थन नहीं किया, लेकिन राजपक्ष सरकार द्वारा श्रीलंका के संविधान में किए गए 13 वें संशोधन की आड़ में 17 सदस्यीय समिति की सिफारिशों को जबरन अमल में लाने के कारण न केवल सत्ता का केंद्रीकरण हुआ, बल्कि तमिलों के स्वनिर्धारण की मांग को युद्ध से कुचलने का मौका भी मिल गया।

इस महाभयंकर हत्याकांड की तुलना किसी अन्य घटना से नहीं की जा सकती। दुनिया भर में हो रही भर्त्सना व संयुक्तराष्ट्र संघ के पूर्व अधिकारियों, तमिल समुदाय व तमिल राजनेताओं के बढ़ते आक्रोश के मद्देनजर भारतीय प्रधानमंत्री डा. मनमोहन सिंह राष्ट्रमंडल सम्मेलन में भाग लेने श्रीलंका नहीं पहुंचे। यहां विदेशमंत्री ने भारत का प्रतिनिधित्व किया था। लेकिन इस सम्मेलन में युद्ध अपराधों पर न तो कोई बात हुई और 1500 व्यक्तिगत मामलों (युद्ध अपराध संबंधी) पर भी कोई कार्रवाई नहीं हो पाई।

भूमि की बंदरबांट

गौरतलब है श्रीलंका में अब 'भूमि' का मामला तूल पकड़ता जा रहा है। इसमें राज्य द्वारा भूमि हड़पना और तमिल समुदाय को जीविका से वंचित रखना एक नई चुनौती है और यह हिंसा का नया प्रकार है। युद्ध के दौरान हजारों एकड़ जमीनें (10500 एकड़) सैनिक शिविर के नाम पर अधिग्रहित कर ली गईं। इस दौरान सुदूर क्षेत्रों में तथाकथित कल्याणकारी गांव व केंद्र बनाए गए। जाफना में 6500 एकड़ निजी जमीन सैन्य शिविर हेतु ले ली गई। निजी पट्टों वाली इन जमीनों पर अब किसान नहीं बल्कि सैनिक

खेती करते हैं और उपज बेचकर कमाई करते हैं। इतना ही नहीं खुली पड़ी जमीनों पर बिना अधिग्रहण कानून का पालन करे चीन व अन्य देशों की कंपनियों को पूंजी निवेश के नाम पर स्पेशल इकॉनामिक जोन (विशेष आर्थिक क्षेत्र) में लाने का न्यौता पिछले पांच वर्षों से लगातार दिया जा रहा है। राजनीति के इस सैन्यीकरण को कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार पूंजीवाद और नई आर्थिक नीति केंद्रित बाजारवाद, एक बार पुनः तमिल क्षेत्रों को लील रहा है। आज भी डेढ़ से दो लाख सैनिक उत्तरी तमिल प्रदेशों में जमे हुए हैं। यह स्थिति की गंभीरता व इसका एक पक्षीय होना दर्शाता है। इसी के समानांतर ताप विद्युतगृहों व मेगा सिटी जैसी अनेक योजनाएं तमिल बसाहटों और गांवों को खत्म करने की साजिश ही हैं। लंदन सम्मेलन में इस प्रकार की हिंसा को खुले तौर पर निंदा की गई।

सैन्य शिविरों और सैन्यीकरण के अलावा विकास परियोजनाओं के नाम पर भूमि की बंदरबांट श्रीलंका के तमिल क्षेत्र में ही नहीं बल्कि दक्षिण एशिया सहित दुनिया भर के देशों में आम हो गई है। किसान, मजदूर, मछुआरे सभी इस विस्थापनवादी व विषमतावादी विकास माडल से हैरान हैं। भारत के तमिलनाडु में श्री पेरेम्बूदूर, शिरुमंगलम जैसे अनेक जिलों में 1500 से 2000 एकड़ तक जमीन बलपूर्वक अधिग्रहित कर वहां पर ब्रिटेन और यूरोप की कंपनियों को लाया जा रहा है। इसमें अंतरराष्ट्रीय वित्तीय एजेंसियों का हित भी जुड़ा रहता है। तमिल व सिंहली समुदाय दोनों ही आपसी संघर्ष में अंततः घाटे में रहेंगे और महावेली जैसी बड़ी सिंचाई योजनाएं सिंहली व तमिलों में से किसी को भी बख्खोगी नहीं।

तमिल नेशनल अलायंस के प्रतिनिधि मान रहे हैं कि महज चुनावी राजनीति से इस स्थिति से निपटा नहीं जा सकता। इस हेतु विकेंद्रित शासन प्रणाली की आवश्यकता है। हम सबको अपने वंचित वर्ग को संभालना व बचाना होगा। किसी समुदाय को वहां की भूमि, प्रकृति व संस्कृति ही बचाती है। तमिलों को पूर्ण मताधिकार प्रदान किए जाने के साथ ही उनकी भूमि को बचाना ही होगा, तभी उनकी जीविका और जीवन चल सकता है। वैश्वीकरण, कंपनीकरण, उदारीकरण के इस मॉडल को स्थानीयता के आधार पर चुनौती देना होगी तथा वैकल्पिक विकास व पुनर्वास का कार्य भी साथ-साथ करना होगा। पुनर्निर्माण आज श्रीलंका की सबसे बड़ी चुनौती है। (सप्रेस)

नस्लवाद की दस्तक

शिउली वनजा

उत्तरपूर्व के युवाओं के साथ हो रही घटनाएं नस्लवादी मानसिकता को दर्शाती हैं। इससे वहां अलगाववाद को बढ़ावा मिलेगा। विविधता में एकता और हिलमिल कर रहने वाले राष्ट्र के दावे पर भी इससे सवाल उठते हैं।

शिउली वनजा
अर्थशास्त्र की शोधछात्रा हैं और विद्यार्थी युवजन सभा की राष्ट्रीय महामंत्री हैं।

पता:

33, गोदावरी छात्रावास,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली- 110067

shiuivanaja@gmail.com

दिल्ली में नीडो तान्या की मौत ने उत्तर-पूर्व के लोगों के साथ भारत की मुख्य भूमि के लोगों के नस्लवादी व्यवहार और हमलों को एक बार फिर चर्चा में ला दिया है। नीडो तान्या अरुणाचल प्रदेश का एक 19 साल का लड़का था, जो दक्षिण दिल्ली के लाजपत नगर क्षेत्र में अपने एक दोस्त से मिलने आया था। वहां के दुकानदारों के साथ झड़प होने के बाद उसे खूब मारा गया जिससे बाद में उसकी मौत हो गई। पिटाई के वक्त कोई उसे बचाने भी नहीं आया। यह घटना कोई अपवाद नहीं है और उत्तर पूर्व के लोगों के साथ इस तरह की कई घटनाएं पहले भी देश के कई महानगरों में होती आई हैं। हम बहुत गर्व के साथ भारत को 'विविधता में एकता' वाला, अनेक सांस्कृतिक समुदायों के साथ में मिल-जुलकर रहने वाले देश के रूप में पेश करते हैं। पर आजादी के बाद से भारतीय मुख्यधारा के समाज ने सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक रूप से उत्तर-पूर्व व कश्मीर के लोगों के साथ एक सौतेला व्यवहार किया है। आज यह समय आ गया है कि हम अपने आप से पूछें कि हम वास्तव में एक बहुसांस्कृतिक समाज व राष्ट्र हैं? या इस मुखौटे की आड़ में हम एक नस्लवादी, जातिवादी और सांप्रदायिक समाज बनते जा रहे हैं?

भारत में डॉ. आंबेडकर के जाति मिटाने के आंदोलन के बाद से जाति प्रथा और जातिगत भेदभावों के खिलाफ कई आंदोलन चले और आज भी चल रहे हैं। भारत सरकार और इसके

प्रतिनिधि, अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में जाकर बार-बार कहते रहे हैं कि जातिगत भेदभाव नस्लवाद नहीं है और भारत नस्लवाद-मुक्त राष्ट्र है। जातिगत-भेदभाव और अत्याचार को नस्लवाद से बिल्कुल अलग कहा जा सकता है क्या, इसमें शंका है दोनों आखिरकार जन्मजात भेदभाव पर आधारित है। पर इसके अलावा भी भारत में नस्लवाद है इसे स्वीकारने का समय आज आ गया है।

उत्तर-पूर्व की महिलाओं के बारे में एक

आम धारणा है कि वे बदचलन और चरित्रहीन हैं क्योंकि उनका पहनावा, वेशभूषा और श्रृंगार मुख्यधारा की महिलाओं से अलग है। इममें से ज्यादातर लोग बिना सोचे-समझे, 'चिंकी' शब्द का प्रयोग उत्तर-पूर्व के लोगों को संबोधित करने के लिए करते हैं। यह शब्द 'नीग्रो'



नीडो तान्या

शब्द की तरह उत्तर-पूर्व के लोगों के लिए एक अपमानसूचक शब्द है, जिसका इस्तेमाल उन्हें नीचा दिखाने के लिए होता रहा है। उत्तर-पूर्व के लोग जब भारत के अन्य क्षेत्रों में शिक्षा और रोजगार के लिए आते हैं तो काफी समय वो अपने आप को उस क्षेत्र की संस्कृति और खान-पान के अनुसार ढालने का प्रयास करते हैं। पर उसके बावजूद पल-पल पर उन्हें नस्लवादी टिप्पणियों, व्यवहार और हमलों का सामना करना पड़ता है। पिछले कुछ सालों में उत्तर-पूर्व लोगों के साथ घटी घटनाएं जैसे लोइताम रिचार्ड की बेंगलोर में मृत्यु, रामचानफाई होंग्रे का दिल्ली में मर्डर, दाना संगमा की आत्महत्या और नीडो तान्या की पीटने से मृत्यु, भारत समाज में

नस्लवादी प्रवृत्तियों को दर्शाती है।

नस्लवाद की मुख्य बात यह है कि एक समुदाय और रंग विशेष के लोग इस मिथ्या धारणा में विश्वास करने लगते हैं कि दूसरे समुदाय और रंग



विशेष के लोग उनसे नीचे हैं उनका व्यवहार दूसरे समुदायों के लोगों के साथ अमानवीय और अपमानजनक होने लगता है। नस्लवादी घटनाओं की तह में अपने आप की श्रेष्ठता सिद्ध करने और अपनी शक्ति प्रदर्शन करने की व्यक्तिगत और सामूहिक इच्छा भी निहित होती है। जिसके साथ यह घटा वो हमारे समूह का हिस्सा नहीं है, इसलिए अमानवीय कृत्य के प्रति सामूहिक उदासीनता भी नस्लवादी चरित्र को दर्शाती है। खिड़की एक्सपेंशन में यूगांडा की महिलाओं के साथ जो हुआ उससे भारतीय मुख्य धारा के मानस-पटल में काले और गोरे रंग को लेकर जो अंधविश्वास और पूर्वाग्रह हैं वो भी सामने आए हैं। किंतु नस्लवाद सिर्फ त्वचा के रंग पर आधारित है यह मानना भी बड़ी भूल होगी।

इस देश के अन्य शोषित और हाशिए पर स्थित वर्गों जैसे दलित, मुस्लिम, महिलाओं आदि की तरह उत्तर-पूर्व के लोग भी जब मुख्यधारा के समूहों के बीच में रहते हैं तो एक डरी-सहमी, आतंकित और कई बार अपमानित अवस्था में जीवन-यापन करते हैं। पिछले साल असम में दंगा छिड़ने के बाद, एसएमएस के द्वारा उत्तर-पूर्व के लोगों पर पलटवार होने की अफवाह फैली। उसका नतीजा हमने बड़ी संख्या में उत्तर पूर्व की ओर पलायन में देखा। इस घटना ने यह स्पष्ट कर दिया कि उत्तर-पूर्व के लोग देश के दूसरे हिस्सों में बहुत ही असुरक्षित और डरे माहौल में रह रहे हैं।

सशस्त्र बल का नस्लवादी कानून

ईरोम शर्मिला पिछले 11 साल से उत्तर-पूर्व के राज्यों पर लागू सशस्त्र बल विशेष शक्तियां कानून (आफसपा) के खिलाफ आमरण अनशन और भूख हड़ताल पर हैं। इस के अंतर्गत उत्तर-पूर्व और कश्मीर के लोगों पर

हजारों ज्यादतियां की गई हैं। पर हमारी केंद्र सरकार और मुख्यधारा की जनता इस कानून के समर्थन में खड़ी नजर आती है। उत्तर-पूर्व में इसका सबसे बड़ा उदाहरण अनेक आंदोलनों, विरोध व रपटों के बावजूद

आफसपा का लागू रहना है।

यदि भारत को विविधता में एकता वाला देश रहना है तो आवश्यक है कि हम समानता, सहिष्णुता और सौहार्द्र के साथ दूसरे समुदायों और सांस्कृतिक समूहों को स्वीकार करें। हमारे अंदर नस्लवादी प्रवृत्तियां हैं यह मानना नस्लवाद को हमारे दिमाग, समाज और राष्ट्र से मिटाने की दिशा में पहला कदम होगा। उत्तर-पूर्व के राज्य आर्थिक रूप से वैसे ही पिछड़े हैं। यदि देश के अन्य हिस्सों में शिक्षा और रोजगार लिए आए उत्तर-पूर्व के लोगों के साथ दूसरों लोगों का नस्लवादी व्यवहार चलता रहा और उनके इस नस्लवादी व्यवहार के खिलाफ आवाज को हमने नजरअंदाज किया तो उनकी अलगाववादी भावनाओं को बल मिलेगा। और वे जायज भी होंगी।

उत्तर-पूर्व के युवाओं के नीडो तान्या की हत्या के बाद लगातार जंतर-मंतर पर धरना दिया। इस धरने में राहुल गांधी और अरविंद केजरीवाल भी आए। 14 फरवरी को उन्होंने संसद पर प्रदर्शन किया, जिसमें उन पर लाठीचार्ज हुआ और गिरफ्तार भी हुई।

अपने आप को सभ्य करने वाले राष्ट्र के लिए शर्म की बात है कि बालों का रंग अलग होने के कारण एक 19 साल के लड़के की पीट-पीटकर हत्या कर दी जाए और उसे बचाने भी नहीं आए। नीडो तान्या और नस्लवादी हमलों के शिकार अन्य लोगों को सही श्रद्धांजलि यह ही होगी कि हम व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्र के स्तर पर उत्तर पूर्व के लोगों के साथ हो रहें नस्लवादी व्यवहार को बंद करें। नस्लवादी व्यवहार न खुद करें, न होने दें और एक स्वस्थ तथा सही मायने में विविधता में एकता और समानता वाले राष्ट्र का निर्माण करें।

अफसरशाही, अपवाद और सीमाएं

सुनील

प्रशासनिक सेवाओं का अफसर विचित्र जीव है। सत्ता का मद, बदतमीजी, झूठबयानी, अंगरेजी प्रेम व भ्रष्टाचार लिप्तता इसकी कुछ खासियतें हैं। कुछ सुखद अपवाद भी मिलते हैं। जनता की भलाई की प्रबल इच्छा रहते हुए भी अच्छे अफसर तभी कुछ कर पाते हैं, जब तक राजनैतिक मुखिया की सहमति हो। हालात को सुधारने के लिए अंततः राजनीति और समाज में क्रांतिकारी बदलाव ही लाना पड़ेगा।

यह लेख शरदचंद्र बेहार के 75 वर्ष की आयु पूरी करने के मौके पर लिखा गया है।
पता: ग्राम/पोस्ट कंसला, वाया इटारसी जिला होशंगाबाद(म.प्र)
461111
फोन: 09425040452
sipsunil@gmail.com

करीब तीस बरस के अपने जमीनी काम के दौरान मेरा पाला कई अफसरों से पड़ा। वैसे तो हमने तय किया था कि निजी तौर पर अपनी उच्च स्तरीय पृष्ठभूमि का इस्तेमाल करके अफसरों से मेलजोल कम ही बढ़ाएंगे। लोगों के काम और समस्याओं के हल उनके खुद के माध्यम से व संगठन के जरिये होने चाहिए। तभी उन्हें अपनी ताकत का अहसास होगा, आत्मविश्वास आएगा, सरकारी तंत्र की जटिलताओं व दांव-पेंचों से वे परिचित होंगे और जूझेंगे तथा उनमें नेतृत्व का विकास होगा। यदि हम एक बिचौलिये बन जाएंगे तो यह काम नहीं हो पाएगा।

फिर भी कई बार अफसरों से मिलना और बात करना पड़ता था। इसलिए भी कि जिन लोगों के बीच हम काम कर रहे थे, वे अनपढ़ या कम पढ़े-लिखे थे, सरकारी दफ्तरों में उनका प्रवेश आसान नहीं था, वल्लभ भवन (भोपाल स्थित सचिवालय जो एक दुर्ग जैसा है) में तो सवाल ही नहीं था। भाषा की भी एक बड़ी खाई है। सरकारी कामकाज की लिखित भाषा तो दुरूह है ही, अफसर जिस भाषा में बोलते हैं वह भी गांववासियों के लिए समझना मुश्किल है। गांववासियों की भाषा व मुहावरे समझना अफसरों के लिए मुश्किल है। इसलिए दुभाषिये का काम भी करना पड़ता है। इधर कुछ सालों से, जबसे फागराम (अभी होशंगाबाद जिला पंचायत सदस्य) जैसे कुछ साथियों का नेतृत्व उभर कर आ गया है, मैंने स्थानीय संगठन और गतिविधियों में अपनी भागीदारी कम कर दी और अफसरों से मिलना भी बहुत कम हो गया।

मैं तुम्हारा दोस्त नहीं हूँ

कुल मिलाकर, अफसरशाही के बारे में

मेरी राय जो पहले थी, अनुभव से वही मजबूत हुई। मुझे एक से एक नमूने मिले। एक बार बैतूल के एक कलेक्टर से हुई मुलाकात का वाकिया दिलचस्प है। वह बदतमीजी से तो बात कर ही रहा था, मैंने उसका सरनेम लेकर (और उसमें 'साहब' लगाकर) कुछ बोलना व समझाना चाहा, तो एकदम तमक गया। बोला "मेरा नाम मत लो, मैं कोई तुम्हारा दोस्त नहीं हूँ।" मैंने पूछा "तो आपको क्या बोलूँ?" उसने कहा, "मुझे कलेक्टर साहब कहकर बोलो।" हालांकि 'कलेक्टर साहब' कहने से भी बातचीत में कोई फरक नहीं आया। जिन समस्याओं को लेकर हम बात कर रहे थे, उन पर ध्यान देने के बजाय वह हमारे बारे में पूछताछ कर रहा था और मान रहा था कि हम 'नक्सलवादी' जैसी कोई चीज हैं। उस मूर्ख अफसर को कोई यह समझाने वाला नहीं था कि आजाद भारत के लोकतंत्र में कायदे से उसे लोगों का दोस्त ही बनना चाहिए, साहब नहीं।

लेकिन आजाद लोकतांत्रिक भारत में यह काम आज तक नहीं हो पाया। इन अफसरों का रूतबा, साहबीपन, शान-शौकत, अकड़, सब वही है। इसका कारण उनके हाथ में शक्तियों का जबरदस्त केन्द्रीकरण है जो अंगरेजी राज के वक्त से चला आ रहा है। खासकर जिला कलेक्टर तो जिले का छोटा-मोटा राजा ही होता है। राजधानी और महानगरों से जितना दूर जिला होगा, पिछड़े इलाके में होगा, आदिवासी-बहुल होगा, इस राजा की ताकत व सत्ता उतनी ज्यादा होगी। अंगरेजी राज के जमाने से चली आई आईएएस, आईपीएस, आईएफएस (भारतीय वन सेवा) जैसी संस्थाएं इस देश में सत्ता के केन्द्रीकरण, शासन और जनता के बीच की दूरी, सत्ता के दुरुपयोग, भ्रष्टाचार और जनता

पर अत्याचार का एक प्रमुख स्रोत हैं।

आईएएस प्राणी की विशेषताएं

इस आईएएस-आईपीएस नामक प्राणी की कुछ विशेषताएं गिनाई जा सकती हैं। एक तो उसमें अहंकार बहुत होता है। वह सोचता है कि उसे सब कुछ मालूम है और वह हर क्षेत्र का विशेषज्ञ है। (जैसे एक कलेक्टर हमें समझा रहा था कि तवा जलाशय में मछली पकड़ने के लिए मछुआरों को नावों के बजाय मशीनीकृत ट्रॉलरों का इस्तेमाल करना चाहिए।) उसके अहंकार को चोट पहुंचने पर वह प्रतिहिंसक भी हो सकता है। वह लोगों को जेल में डाल सकता है, झूठे केस बनवा सकता है, लाठी और गोली भी चला सकता है। हालांकि ऐसे कामों में अक्सर राजनैतिक आकाओं के इशारों का संयोग भी रहता है। ओड़िशा के कालाहांडी जिले में हमारे एक साथी राधानाथ प्रधान के जेल जाने का किस्सा तो एक बढ़िया उदाहरण है। जिले की जंगल की कटाई के बारे में ज्ञापन देने के लिए डेढ़ घंटे लाईन में खड़े होने के बाद जब कलेक्टर-एसपी के संयुक्त दरबार में वे पहुंचे, तो वहां उन्हें बैठने के लिए भी नहीं कहा गया। उन्होंने तलखी से पूछा कि क्या आगंतुकों के साथ आपका यही शिष्टाचार है ?

इतना कहना ही अफसरों को नागवार गुजरा और वे जेल भेज दिए गए।

साधारण जनता के साथ बरताव में अक्सर यह प्राणी 'तमीज' नाम की चीज भूल जाता है। एक इंसान को दूसरे इंसान के साथ किस तरह का व्यवहार करना चाहिए, यह उसके जेहन में रहता ही नहीं है। वह इंसानों को अपनी प्रजा, मातहत या बॉस इन तीन श्रेणियों के रूप में ही देखता और पहचानता है। मजे की बात यह है कि ऊपर के अफसर, मंत्री या मुख्यमंत्री के सामने इस प्राणी की सारी अकड़ निकल जाती है और वह 'सर,सर' कहते हुए पूंछ हिलाने लगता है। ऊपर वालों के गलत-सही सारे आदेशों को मानना और पालन करना वह अपना परम कर्तव्य मानता है। उसका पूरा प्रशिक्षण इसी तरह का होता है। यह प्रशिक्षण कुछ मसूरी में होता होगा, लेकिन ज्यादातर तो फील्ड में पोस्टिंग होते ही शुरू हो जाता है।

यह प्राणी झूठ आसानी से बोल सकता है, नेताओं

जैसे ही झूठे वायदे भी कर सकता है। जिस जगह वह खुद बॉस है, वहां वह गैर-जिम्मेदारी से कुछ भी मौखिक आदेश दे सकता है। कलम चलाने में जरूर वह बहुत सावधान और कंजूस रहता है, क्योंकि वह फंस सकता है। इसलिए कई जगह वह मौखिक आदेशों से ही काम चलाता रहता है। मौका आने पर पलट सकता है और कह सकता है कि उसने ऐसा नहीं कहा है। जिले का राजा होने के कारण आम तौर पर कोई उसको टोकता भी नहीं, आलोचना का तो सवाल ही नहीं।

इस प्राणी को अंगरेजी बोलने का खास शौक रहता है। ऐसे कई मौके आए, जब मैं अपने आदिवासी साथियों के साथ उनसे हिन्दी में बात कर रहा हूँ और (उन्हें मेरी पृष्ठभूमि मालूम चलती है या पहले से मालूम है) वे अंगरेजी में शुरू हो जाते हैं। मैं फिर जवाब हिन्दी में देता हूँ, लेकिन वे इशारा नहीं समझते और अंगरेजी में बोलते जाते हैं। तब मुझे या फागराम को उन्हें टोकना पड़ता है कि कृपया हिन्दी में बोलें ताकि सबको बात समझ में आए।

इस प्राणी के अक्सर भ्रष्टाचार में लिप्त होने के बारे में मैं यहां बात नहीं कर रहा हूँ। वह तो जगजाहिर है। कई बड़े-बड़े अफसरों के यहां छपों

में करोड़ों ही नहीं, अरबों की संपत्ति उजागर हो रही है। यहां दो ही टिप्पणियां करना उचित होगा। एक, भ्रष्टाचार के सिलसिले में नेताओं की ज्यादा चर्चा होती है, अफसरों की कम। इसका कारण यह है कि नेता जनता के बीच से आते हैं, बीच-बीच में उन्हें जनता के बीच जाना पड़ता है, इसलिए उनका भ्रष्टाचार ज्यादा दिखाई पड़ता है। अफसर तो किसी दूसरी दुनिया से आते हैं, जिनका स्थानीय जनता में कोई उठना-बैठना नहीं होता। लेकिन यह तय है कि कोई भी घोटाला अफसरों की सहमति और भागीदारी के बगैर नहीं होता। दो, अब पीछे मुड़कर देखने पर मुझे लगता है कि कई बार अफसरों (या उनके पीए) की बदतमीजी या अकड़ का कारण यह रहा होगा कि वे मंत्री या ऊपर के अफसर के साथ मिलकर घपले-घोटाले करते होंगे और इसलिए ज्यादा निडरता और हमारे जैसे लोगों को बरदाश्त न करने की ज्यादा प्रवृत्ति उनमें रही होगी। 'जब सैंया भए कोतवाल तो डर कैसा।'

इस प्राणी का यह वर्णन कुछ लोगों को शायद सही व अच्छा नहीं लगे। वे कह सकते हैं कि अच्छे अफसर भी हैं और सबको एक रंग से पोतना उचित नहीं है। बात सही है, लेकिन वे अपवाद हैं। एक मायने में अफसर सहानुभूति के पात्र भी हैं। जैसे जिला कलेक्टर के रूप में इतनी ज्यादा जिम्मेदारियां (और ताकत) उनको दी गई हैं कि यदि सही तरीके से और पूरी जिम्मेदारी से वे काम करें, तो उनको सांस लेना भी मुश्किल होगा है। यानी ढांचा ऐसा है कि ईमानदारी और जिम्मेदारी से काम करना बहुत मुश्किल है, बेइमानी, लापरवाही और लीपा-पोती का काम करना आसान है। इसीलिए इस नौकरी में आने पर शुरू में कई नौजवानों में उत्साह और कुछ आदर्शवाद रहता है, लेकिन धीरे-धीरे यह ढांचा उनको इसी में ढल जाने के लिए मजबूर करता है। बिरले ही होते हैं जो बहुत ताकत लगाकर अपने को बचाए रखते हैं। ऐसे कुछ बिरलों का जिकर आगे किया गया है।

तीन बिरले

अफसरशाही के इस शोचनीय माहौल से मुझे मध्यप्रदेश के तीन अफसर ऐसे मिले हैं जिनसे मिलने पर हर बार हैरानी हुई है और प्रभावित हुए बिना रहा नहीं गया। इनमें दो पुरुष आईएएस हैं और एक महिला आईपीएस - शरदचन्द्र बेहार, भारतेन्द्र सिंह बसवान और अनुराधा शंकर। बैतूल जिले के कलेक्टर व एसपी रहे पंकज राग और प्रमोद फलणीकर के बारे में भी साथियों से बहुत सुना, जब उनसे संक्षिप्त काम पड़ा तो उसकी झलक भी मिली, लेकिन मेरा ज्यादा सीधा ताल्लुक नहीं रहा, इसलिए उनका जिकर यहां नहीं कर रहा हूं।

इन तीनों से हम जब भी मिले, तो ऐसा लगा ही नहीं कि किसी बड़े अफसर से मिल रहे हैं। ऐसी सहजता और जनता की समस्याओं में मदद करने की इतनी तत्परता दुर्लभ है। बसवान साहब जैसी विनम्रता की प्रतिमूर्ति तो अफसरशाही के बाहर के समाज में भी बहुत कम मिलती है। जब केसला में 9 दिसंबर 1995 को विस्थापितों द्वारा राजमार्ग पर दिन भर के चक्काजाम के बाद लाठीचार्ज हुआ और विधानसभा में उसकी गूंज उठी, तब दिग्विजय सिंह मुख्यमंत्री और बेहार साहब मुख्य सचिव थे। हम लोग जेल में थे, तभी साथी अनुराग मोदी बेहार साहब से जाकर मिले। बेहार साहब ने आंदोलन की मांगों पर विचार करने के लिए संबंधित विभागों के प्रमुख सचिवों की समिति बनाई तो चतुराई से आदिम जाति कल्याण विभाग के प्रमुख सचिव बसवान साहब को उसका संयोजक बनाया। एक तरह से

उनके और बेहार साहब के कारण ही आखिरकार मंत्रीमंडल का फैसला लोगों के पक्ष में हो पाया (निश्चित ही दिग्विजय सिंह की इच्छा और सहमति भी रही होगी)।

अपने आदिवासी साथियों के साथ जब भी हम बसवान साहब से मिलने वल्लभ भवन गए और नाम लिखकर परची कमरे के अंदर पहुंचाई, उन्होंने हमें बाहर इंतजार नहीं करने दिया। तुरंत अंदर बुलाया। यदि वे किसी से बात कर रहे हैं या किसी बैठक में जा रहे हैं तो माफ़ी मांगते हुए उनके कक्ष में सोफों पर बिठाया। हर बार हमें चाय-कॉफी पिलाई। इस वीआईपी ट्रीटमेंट पर हम हैरान रहते थे। जिला कलेक्टर, एसपी, एसडीएम या तहसीलदार से हम मिलने जाते थे, तो आमतौर पर वे पानी के लिए भी नहीं पूछते थे। कई बार खड़े-खड़े बात करना पड़ता था। बाद में हमारे संगठन की मांगों में एक मांग स्थाई रूप से जुड़ गई थी कि सरकारी दफ्तरों में आने वाले गरीब से गरीब नागरिक को कुर्सी दी जाए, पानी पिलाया जाए और उसके साथ इज्जत का बरताव किया जाए। बसवान साहब के बारे में चपरासी या दूसरे मातहत बताते थे कि वे राजस्थान के किसी राजपरिवार से हैं। लेकिन राजपूतानी अकड़ या ठकुराई का जरा भी दर्शन उनमें नहीं होता था और मामला बिलकुल उलटा था।

बोरी अभयारण्य के एक रेंजर द्वारा एक आदिवासी लड़की के साथ बलात्कार का मामला हमारे संगठन ने उठाया था। आंदोलन करने पर एफआईआर तो दर्ज हो गई, लेकिन रेंजर को तुरंत जमानत मिल गई। मामला ठंडे बस्ते में चला गया। फिर अनुराधा शंकर होशंगाबाद की एसपी बनकर आई। एक दिन बैतूल से साथी शमीम आई और हम जाकर इस विषय में उनसे मिले। उन्होंने तुरंत फाईल बुलाई, देखी बताया कि केस कमजोर बना है, लेकिन अपने मातहतों को निर्देश दिया कि जो भी है, इसका चालान (अभियोग पत्र) तो अदालत में दाखिल करना पड़ेगा। अभी तक क्यों नहीं किया ? फैसला अदालत करेगी। इस तरह यह केस आगे बढ़ा।

छोटे से कद की यह दुबली-पतली महिला पुलिस अफसर की कुर्सी पर और वरदी में बहुत अटपटी लगती थी। लेकिन होशंगाबाद जिले में उसने धूम मचा दी। टैक्सी (सवारी ढोने वाली जीपें) वालों की बैठक ली और कहा कि पुलिस वालों को हफ्ता देने की कोई जरूरत नहीं है। कोई मांगे तो मुझे बताना। पुलिस वालों पर जितनी कार्रवाई उन्होंने की, शायद ही किसी एसपी ने की हो। लेकिन छोटे पुलिसकर्मियों की समस्याओं के प्रति हमदर्दी भी उनमें थी।

वे गोष्ठियों में भी सरलता से चली आती थी। उनसे पहली मुलाकात निटाया गांव में गांधीवादी बनवारीलाल जी चौधरी के आश्रम में आयोजित गोष्ठी में हुई।

तवा मत्स्य संघ ने पांच साल पूरे होने पर प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंध, उपयोग और स्वामित्व पर एक राष्ट्रीय कार्यशाला आयोजित की, तो वे खुद तो आई ही, प्रशिक्षु थानेदारों और डीएसपियों को लेकर चली आई कि चलो, वहां सीखने को मिलेगा। जिला पंचायत की दलित महिला अध्यक्ष को प्रताड़ित करने के मामले में उन्होंने जिला पंचायत उपाध्यक्ष और सपा विधायक के खिलाफ अजा-अजजा अत्याचार कानून में केस दर्ज करवाया। तब वह दबंग विधायक छिपता फिरा।

उसे गिरफ्तार करने के लिए एक दिन अनुराधा शंकर ने सोहागपुर में अमरकंटक एक्सप्रेस की तलाशी करवा ली।

यह सपा विधायक कांग्रेस के एक बड़े नेता के नजदीक था। नतीजा यह हुआ कि कुछ समय बाद अनुराधा शंकर का तबादला कर दिया गया। वे इससे बहुत विचलित हुई। अपनी कर्तव्य परायणता का उन्हें यही इनाम मिला था। छुट्टी लेकर वे कुछ समय पचमढ़ी में रही और नौकरी छोड़ने पर भी गंभीरता से विचार किया। लेकिन फिर नहीं छोड़ी। बाद में भी वे बीच-बीच में चर्चा में रही।

जनांदोलनों के अभिभावक

मध्यप्रदेश में जनांदोलनों और अन्याय के खिलाफ लड़ने वालों के दो अभिभावक थे, जिनके पास वे संकट के समय दौड़ते थे और सलाह व मदद मांगते थे। इनमें एक सरकार के अंदर थे, एक सरकार के बाहर। एक समाजवादी नेता थे, एक ऊंचे अफसर। ये थे ओमप्रकाश रावल और शरदचंद्र बेहार। दोनों की सद्भावना और मदद प्रदेश के जनांदोलनों को मिली।

बेहार साहब में कुछ अद्भुत गुण रहे। उनमें काफी आशावादिता और धीरज है। वे सामने वाले की बात को पूरा सुनते थे (यह गुण अफसरों में बहुत कम होता है) और कोई न कोई रास्ता निकालने की पूरी कोशिश करते थे। अफसरों का अहंकार उनमें नजर नहीं आता था और आलोचनाओं को भी सुनते थे। व्यस्त रहने के बावजूद मामले की

जटिलताओं और तकनीकी ब्यौरों में वे जाते थे। अध्ययन भी काफी करते थे। बरगी और तवा बांधों में विस्थापितों की मत्स्य सहकारिता के अनूठे प्रयोगों में उनकी बड़ी भूमिका रही। बाद में जब दिग्विजय सिंह की सरकार इन दोनों के खिलाफ फैसले लेने लगी, तब भी इन्हें बचाने की भरसक कोशिश उन्होंने की।

नर्मदा बांधों के संघर्ष में भी उन्होंने कई बार 'टास्क फोर्स' बनाकर रास्ता निकालने की कोशिश की। कई बैठकों में मैं भी गया। बांध के नफा-नुकसान क्या हैं और विकल्प क्या हो सकते हैं, इन पर बहुत विस्तार से चर्चा इनमें होती थी और बेहार साहब बहुत प्रतिबद्धता और गंभीरता से उनमें रहते थे।

“होशंगाबाद विज्ञान” के प्रयोग में भी उनकी गहरी भागीदारी थी और शिक्षा में काम करने वाली संस्था 'एकलव्य' के तो संस्थापकों में वे एक थे। लेकिन अंततः होशंगाबाद विज्ञान का कार्यक्रम एक झटके में बंद कर दिया गया। तवा मत्स्य संघ का पटाक्षेप तो शिवराज सिंह चौहान के मुख्यमंत्री पद पर आने के बाद हुआ, लेकिन बरगी संघ उनके मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह के सलाहकार रहते ही बंद हो गया था। मछली विभाग और सहकारिता विभाग के अफसरों ने ठेकेदारों के साथ मिलकर जो साजिशें रची, उन्हें वो रोक नहीं पाए। कारण यह था कि शायद मुख्यमंत्री दिग्विजयसिंह ने इन्हें समाप्त करने का मन बना लिया था। इसी तरह नर्मदा पर बड़े बांध रूके नहीं, एक के बाद एक बनते चले गए। टास्क फोर्सों की रपट ठंडे बस्तों में बंद हो गई। जब तक बेहार साहब की चली, मध्यप्रदेश सरकार ने सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्ट में आंदोलन का पक्ष लिया। लेकिन जल्दी ही यह दौर खत्म हो गया।

अच्छे अफसर की सीमा

दरअसल बेहार साहब की जो सीमा थी, वह किसी भी ईमानदार, जनपक्षी और प्रगतिशील अफसर की सीमा हो सकती है। वह आखिरकार उतना ही कर सकता है, जितना उसका राजनैतिक मुखिया (मंत्री या मुख्यमंत्री) चाहता है। जब तक रिश्तों का ज्यादा टकराव नहीं होता है, तब तक उसकी कोशिशें सफल होती हैं। टकराव ज्यादा बढ़ने पर

राजनैतिक मुखिया फैसला लेता है और अफसर को उसी के मुताबिक काम करना पड़ता है। एक लोकतंत्र में यह गलत भी नहीं है। सत्ता की चाबी अंततः चुने हुए जनप्रतिनिधियों के हाथ में ही रहना चाहिए। इसलिए यदि चीजों को सुधारना है तो राजनीति को ही बदलना पड़ेगा।

अब पीछे मुड़कर देखने पर महसूस होता है कि दिग्विजय सिंह ने अपने पहले कार्यकाल में जनांदोलनों और एनजीओ के साथ अच्छा रिश्ता बनाने की कोशिश की। बेहार साहब इसी कार्यकाल में मुख्य सचिव रहे। मुख्यमंत्री की इच्छा और बेहार साहब जैसे अफसर का मेल होने से इस काल में कई नए प्रयोग हुए। लेकिन दूसरी बार जीतने के बाद दिग्विजय सिंह को कुछ अहंकार भी हो गया। बार-बार आंदोलन करने और वोटों की दृष्टि से या छवि निर्माण की दृष्टि से ज्यादा उपयोगी मालूम होने के कारण दिग्विजय सिंह ने भी उनसे किनारा करने या

दमन करने की कोशिश की। बेहार साहब उनके लिए अब ज्यादा उपयोगी न रहे।

यदि एक उदात्त शासक हो और अच्छे अफसर हों (जिनका चुनाव भी वह शासक करता है) तो सरकार के साथ मिलकर कुछ अच्छे काम हो सकते हैं। लेकिन इनकी सीमा भी साफ दिखाई दे रही है। शरदचंद्र बेहार, हर्ष मंदर, ब्रह्मदेव शर्मा, शंकरन, के.बी. सक्सेना, अशोक वाजपेयी, अनिल बोर्डिया, रामास्वामी अय्यर, ई.ए.एस. शर्मा जैसे अफसर भारतीय नौकरशाही के सितारे हैं, जिन्होंने एक अच्छे अफसर का मॉडल पेश किया है। उन्होंने जोखिम लिए हैं और लीक से हटकर काम किए हैं। लेकिन उनके जैसी कोशिशों को पूर्णता भी तभी मिलेगी, जब देश की राजनीति बदलेगी, सरकारी ढांचा बदलेगा, समाज बदलेगा तथा शंकर गुहा नियोगी व किशन पटनायक जैसे और लोग देश में पैदा होंगे।

प्रपत्र-ख

स्वामित्व संबंधी तथा अन्य वक्तव्य फार्म

1. प्रकाशन का स्थान : इटारसी (मध्यप्रदेश)
2. प्रकाशन अवधि : मासिक
3. प्रकाशक का नाम : राजेंद्र कुमार बिंदल
4. राष्ट्रीयता : भारतीय
5. पता : द्वारा चंद्रशेखर मिश्रा का मकान, दूसरी लाईन, इटारसी (म.प्र.) 461111
6. संपादक का नाम : सुनील
7. राष्ट्रीयता : भारतीय
8. पता : ग्राम/पोस्ट केसला, जिला होशंगाबाद, म.प्र.
9. मुद्रक : दैनिक भास्कर प्रेस, पवारखेड़ा, जिला होशंगाबाद, म.प्र.

मैं राजेंद्र कुमार बिंदल इस वक्तव्य के द्वारा घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण जहां तक मेरी जानकारी और विश्वास है, सत्य है।

ह. राजेंद्र कुमार बिंदल
प्रकाशक

स्त्री संघर्ष की पहली नेता

सावित्रीबाई
फुले

अनिता भारती

उन्नीसवीं सदी के
घोर रुढ़िवादी
समाज में स्त्री-
शिक्षा और
महिलाओं की
मुक्ति के लिए
काम करना
आसान नहीं था।
उन्होंने पुरुषसत्ता
और ब्राह्मणवाद के
खिलाफ गजब का
संघर्ष किया।
ऐसी क्रांतिकारी
महिला की
पुण्यतिथि के मौके
पर उनके जीवन,
कामों और विचारों
की एक झलक।

इस के साथ वार्ता में
'विरासत' नाम से एक
स्थायी स्तंभ शुरु किया
जा रहा है। प्रेरणा देने
वाली किसी विभूति के
बारे में हरअंक में पाठकों
को पढ़ने को मिलेगा।
(यह लेख 'फारवर्ड प्रेस'
से साभार लिया गया
है।)

अनिता भारती दलित
लेखिका और कार्यकर्ता
हैं। दिल्ली में रहती हैं।
पता:
एडी-118 बी, शालीमार
बाग, दिल्ली-110088
फोन:

09899700767
anita.bharti
@gmail.com

3 जनवरी 1831 को महाराष्ट्र के सतारा जिले के नायगांव में जन्मी सावित्रीबाई फुले ने भारत में स्त्री शिक्षा की ऊसर-बंजर जमीन पर नन्हा पौधा रोपकर उसे एक विशाल छतनार वृक्ष में तब्दील कर दिया। भारत में सदियों से शिक्षा से वंचित-शोषित, दलित-आदिवासी और स्त्री समाज को सावित्रीबाई फुले ने अपने निस्वार्थ प्रेम, सामाजिक प्रतिबद्धता, सरलता तथा अथक प्रयासों से अपने पति जोतिबा फुले के साथ मिलकर, शिक्षा पाने का अधिकार दिलवाया। सावित्रीबाई ने शिक्षा पर षड़यंत्रकारी तरीके से एकाधिकार जमाए बैठी ऊंची जमात का भांडा एक ही झटके में फोड़ डाला।

जिस देश में एकलव्य का अंगूठा गुरुदक्षिणा में मांगने वाले के नाम पर पुरस्कार दिए जाते हों, जिस देश में शंबूक जैसे शूद्र तपस्वी के वध की परंपरा हो, जिस देश में शूद्रों-अतिशूद्रों और स्त्रियों को शिक्षा ग्रहण करने पर धर्मग्रंथों में उनके कान में गर्म सीसा डालने का फरमान जारी किया गया हो और जिस देश में तथाकथित ब्राह्मणवादी समाज के कवि द्वारा 'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी' को ताड़न का अधिकारी माना गया हो, ऐसे देश में किसी शूद्र समाज की स्त्री द्वारा संपूर्ण स्त्री व दलित समाज के लिए शिक्षा की क्रांति ज्योति जला देना अपने आप में किसी आश्चर्य से कम नहीं था। परंतु अफसोस तो यह है कि 'जात न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान' वाले देश में जाति के आधार पर ही ज्ञान की पूछ होती है। यदि ऐसा नहीं है तो फिर भारत में आज भी शिक्षक दिवस क्रांतिसूर्य सावित्रीबाई फुले के नाम पर न मनाकर सर्वपल्ली राधाकृष्णन के नाम पर क्यों मनाया जाता है? क्या सावित्रीबाई फुले का शिक्षा के क्षेत्र में देश के लिए

योगदान कम महत्वपूर्ण है ?

सावित्रीबाई फुले न केवल भारत की पहली गैर-मिशनरी अध्यापिका और प्रधानाचार्य थीं अपितु वे समाज सुधारक, जागरूक कवयित्री और चिंतक भी थीं। वे कई लोगों के लिए प्रेरणास्त्रोत बन गईं।

सावित्रीबाई फुले ने जब काम करना शुरू किया, उस दौर में धार्मिक अंधविश्वास, रुढ़िवाद, अस्पृश्यता, दलितों और स्त्रियों पर मानसिक और शारीरिक अत्याचार अपने चरम पर थे। बाल-विवाह, सती प्रथा, बेटियों के जन्मते ही मार देना, विधवा स्त्री के साथ तरह-तरह के अमानुषिक व्यवहार, अनमेल विवाह, बहुपत्नी विवाह आदि व्याप्त थे। ऐसे समय में सावित्रीबाई और जोतिबा का इस अन्यायी समाज के खिलाफ खड़े हो जाना, सदियों से ठहरे और सड़ रहे गंदे तालाब में हलचल पैदा करने से कम नहीं था।

स्त्रियों की शिक्षा

सावित्रीबाई ने हजारों साल से शिक्षा से वंचित कर दिए गए शूद्र, अतिशूद्र समाज और स्त्रियों के लिए बंद कर दिए गए दरवाजों को एक ही धक्के में लात मारकर खोल दिया। यह पुणे के सनातनियों को रास नहीं आया। वे सावित्रीबाई और जोतिबा पर प्राणलेवा हमले करने लगे। सावित्री और जोतिबा द्वारा जलाई गई शिक्षा ज्योति बुझ जाए, इसके लिए उन्होंने जोतिबा के पिता गोविंदराव को भड़काकर उन्हें घर से निकलवा दिया। जब सावित्रीबाई घर से बाहर लड़कियों को पढ़ाने निकलतीं तो उन पर सनातनियों द्वारा गोबर-पत्थर फेंके जाते। वे एक साड़ी थैली में लेकर चलती और स्कूल जाकर बदल लेती। उन्हें रास्ते में रोककर सवर्ण गुंडों

द्वारा भद्दी गालियां दी जातीं तथा उन्हें जान से मारने की धमकियां दी जाती थीं। लड़कियों के लिए चलाए जा रहे स्कूल बंद कराने के अनेक प्रयास किए जाते थे। सनातनी चाहते थे कि सावित्रीबाई डरकर घर बैठ जाएं। एक बदमाश रोज सावित्रीबाई फुले का पीछा कर उन्हें तंग करता था। एक दिन तो उसने हद ही कर दी। तब सावित्रीबाई ने बहादुरी से उस बदमाश का मुकाबला करते हुए उसे दो-तीन थप्पड़ कसकर जड़ दिए। सावित्रीबाई फुले से थप्पड़ खाकर वह बदमाश इतना शर्मसार हो गया कि फिर कभी उनके रास्ते में नहीं आया। इस तरह जोतिबा और सावित्रीबाई ने अपना काम जारी रखा।

ब्राह्मण पेशवाओं के राज में, पूना और उसके आसपास के इलाकों में, छुआछूत ने अत्यंत क्रूर व अमानवीय स्वरूप ले दिया था। ऐसे में पूना में स्कूल खोलकर, फुले दंपति यह संदेश दे रहे थे कि वे ब्राह्मणवाद की जड़ों पर प्रहार कर रहे हैं। इस तरह के जातिवादी माहौल में, फुले जैसे शूद्र दंपति अछूतों सहित सभी समुदायों की लड़कियों के लिए स्कूल खोल सके और उन्हें चला सके, एक सामाजिक क्रांति से कम नहीं था। ऐसा परिवर्तनकामी काम इस देश में सावित्री-जोतिबा से पहले किसी ने नहीं किया था। सामाजिक बदलाव में इतने दमदार योगदान के बावजूद इस देश के सवर्ण समाज के जातीय घमंड

के चलते फुले दंपति को इतिहास में उपयुक्त स्थान नहीं मिला। परंतु यह खुशी और संतोष की बात है कि आज स्वयं दलित-पिछड़ा, वंचित-शोषित समाज इतिहास का पुनर्लेखन कर उनके अतुलनीय योगदान की गाथा को सबके सामने उजागर कर रहा है। फुले दंपति के निस्वार्थ मिशन से प्रेरणा लेकर वंचित वर्गों के अनेक सदस्य उनके नाम पर स्कूल, कॉलेज आदि खोलकर अपने समाज के छात्र-छात्राओं की आर्थिक, सामाजिक और भावनात्मक मदद कर रहे हैं।

पूना के भिड़वाड़ा, बुधवार पेठ में 1848 में खुले पहले स्कूल में छह छात्राओं ने दाखिला लिया जिनकी आयु चार से छह वर्ष के बीच थी। इनके नाम अन्नपूर्णा जोशी, सुमती मोकाशी, दुर्गा देशमुख, माधवी थत्ते, सोनू पवार और जानी करडिले थे। इन छह छात्राओं की कक्षा के बाद, सावित्रीबाई घर-घर जाकर लोगों से बच्चियों को पढ़ाने का

आह्वान करतीं। उनके इस अभियान का फल यह निकलना कि पहले स्कूल में ही इतनी छात्राएं हो गईं कि एक और अध्यापक नियुक्त करने की नौबत आ गई। ऐसे समय विष्णु पंत थत्ते ने मानवता के नाते मुफ्त में पढ़ाना स्वीकार कर विद्यालय की प्रगति में अपना योगदान दिया। सावित्रीबाई फुले ने 1849 में पूना में ही उस्मान शेख के घर पर मुस्लिम स्त्रियों व बच्चों के लिए प्रौढ़ शिक्षा केंद्र खोला। 1849 में ही पूना, सतारा व अहमदनगर जिले में पाठशालाएं खोलीं।

पहली भारतीय स्त्री अधिकारवादी

सावित्रीबाई ने केवल शिक्षा के क्षेत्र में काम नहीं किया। स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए उन्होंने 1852 में महिला मंडल का गठन किया। इस तरह वे भारतीय महिला

आंदोलन की प्रथम अगुआ बनीं। इस महिला मंडल ने बाल विवाह, विधवाओं पर पारबंदियों आदि के कारण स्त्रियों पर किए जा रहे जुल्मों के खिलाफ स्त्रियों को तथा दूसरों को मोर्चाबंद कर सामाजिक बदलाव के लिए संघर्ष किया। हिंदू स्त्री के विधवा होने पर उसका सिर मूंड़ दिया जाता था। विधवाओं के सर मूंड़ने जैसी कुरीतियों के खिलाफ लड़ने के लिए सावित्रीबाई फुले ने नाईयों से विधवाओं के बाल न काटने का अनुरोध करते हुए आंदोलन चलाया, जिसमें काफी संख्या में नाईयों

ने भाग लिया तथा ऐसा न करने की प्रतिज्ञा ली। इतिहास गवाह है कि भारत क्या पूरे विश्व में ऐसा सशक्त आंदोलन नहीं मिलता, जिसमें औरतों पर होने वाले शारीरिक और मानसिक अत्याचार के खिलाफ स्त्रियों के साथ पुरुष प्रत्यक्ष रूप से जुड़े हों और वह भी आर्थिक नुकसान उठाकर। नाईयों के कई संगठन सावित्रीबाई फुले द्वारा गठित महिला मंडल के साथ जुड़े। सावित्री बाई फुले और महिला मंडल के साथियों ने ऐसे ही अनेक आंदोलन वर्षों तक चलाए व अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की।

हमारे देश का इतिहास, धर्मग्रंथ और सामाजिक सुधार आंदोलन गवाह है कि हमारे समाज में स्त्रियों की कीमत एक जानवर से भी कम थी। स्त्री के विधवा होने पर उसके परिवार के पुरुष जैसे देवर, जेठ, ससुर व अन्य संबंधियों द्वारा उसका दैहिक शोषण किया जाता था, जिसके कारण



इनमें से कई मां बन जाती थीं। बदनामी से बचने के लिए विधवाएं या तो आत्महत्या कर लेती थीं या फिर अपने अवैध बच्चे को मार डालती थीं। ऐसी स्त्रियां आत्महत्या न करें तथा अपने अजन्मे बच्चे को भी न मारें, इस उद्देश्य से सावित्रीबाई फुले ने भारत का पहला बाल हत्या प्रतिबंधक गृह खोला तथा निराश्रित असहाय महिलाओं के लिए अनाथाश्रम भी।

सावित्रीबाई ने आत्महत्या करने जा रही एक विधवा ब्राह्मण काशीबाई, जो कि मां बनने वाली थी, को आत्महत्या करने से रोका और उसकी अपने घर में प्रसूति करवा के उसके बच्चे को गोद लिया। दत्तक पुत्र यशवंत राव को पाल-पोसकर डॉक्टर यशवंत बनाया। उसके बड़े होने पर उसका अंतरजातीय विवाह करवाया। महाराष्ट्र का यह पहला

अभिलेखित अंतरजातीय विवाह था। सावित्रीबाई और जोतिबा ने सारे परिवर्तन के कार्य अपने घर से ही शुरू किए। सावित्रीबाई जीवनपर्यंत अंतरजातीय विवाह आयोजित व संपन्न कर जाति व वर्गविहीन समाज की स्थापना के लिए प्रयासरत रहीं। उन्होंने

लगभग 48 वर्षों तक दलित, शोषित, पीड़ित स्त्रियों को इज्जत से रहने के लिए प्रेरित किया और उन्हें स्वाभिमान और गरिमापूर्ण जीवन जीने के लिए प्रेरित किया।

मुक्ति की कविचित्री

भारत की पहली अध्यापिका तथा सामाजिक क्रांति की अग्रदूत सावित्रीबाई फुले एक प्रसिद्ध कविचित्री भी थीं। उनकी एक बहुत ही प्रसिद्ध कविता है, जिसमें वह सबको पढ़ने-लिखने की प्रेरणा देकर जाति तोड़ने और ब्राह्मण ग्रंथों को फेंकने की बात करती हैं-

जाओ, जाकर पढ़ो-लिखो
जाओ, जाकर पढ़ो-लिखो
बनो आत्मनिर्भर, बनो मेहनती
काम करो-ज्ञान और धन इकट्ठा करो
ज्ञान के बिना सब खो जाता है
ज्ञान के बिना हम जानवर बन जाते हैं
इसलिए, खाली ना बैठो, जाओ, जाकर शिक्षा लो

दमितों और त्याग दिए गयों के दुखों का अंत करो
तुम्हारे पास सीखने का सुनहरा मौका है
इसलिए सीखो और जाति के बंधन तोड़ दो
ब्राह्मणों के ग्रंथ जल्दी से जल्दी फेंक दो

एक चिंतक के तौर पर सावित्रीबाई का मानना था कि ऊंच-नीच ईश्वर ने नहीं बनाए हैं। इसको बनाने में तो कुछ स्वार्थी इंसानों का ही हाथ है। उनसे अपना भविष्य सुरक्षित करने और अपना जीवन ऐशो-आराम से जीने के लिए जातियां बनाईं। अंतरजातीय विवाह का समर्थन करने पर सावित्रीबाई के भाई ने उन्हें भला-बुरा कहते हुए लिखा-
“तुम और तुम्हारे पति बहिष्कृत हो गए हैं। महार, मांगों के लिए तुम जो काम करते हो वह कुल भ्रष्ट करने वाला है। इसलिए कहता हूं कि जाति रूढ़ि के अनुसार जो भट्ट

जब सावित्रीबाई घर से बाहर लड़कियों को पढ़ाने निकलतीं तो उन पर सनातनियों द्वारा गोबर-पत्थर फेंके जाते। वे एक साड़ी थैली में लेकर चलती और स्कूल जाकर बदल लेती। उन्हें रास्ते में रोककर सर्पण गुंडों द्वारा भद्दी गालियां दी जातीं तथा उन्हें जान से मारने की धमकियां दी जातीं थीं।

कहें, तुम्हें उसी प्रकार आचरण करना चाहिए।” भाई की पुरातनपंथी बातों का जवाब सावित्रीबाई ने खूब अच्छी तरह देते हुए कहा कि “भाई तुम्हारी बुद्धि कम है और भट्ट लोगों की शिक्षा से वह दुर्बल बनी हुई है।” एक अन्य पत्र में उन्होंने 1877 के अकाल की भीषणता का

जिस मार्मिकता से वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। सावित्रीबाई और जोतिबा फुले ने न केवल ‘अन्न सत्र’ चलाए, बल्कि अकाल पीड़ितों को अनाज देने के लिए लोगों से अपील भी की। 1890 में जोतिबा का निर्वाण होने के बाद भी सावित्रीबाई पूरे सात साल समाज में काम करती रहीं। 1897 में महाराष्ट्र में प्लेग फैल गया परंतु सावित्रीबाई बिना किसी भय के प्लेग-पीड़ितों की मदद करती रहीं। एक प्लेग पीड़ित दलित बच्चे को बचाते हुए स्वयं भी प्लेग पीड़ित हो गईं। अंततः अपने पुत्र यशवंत के अस्पताल में 10 मार्च, 1897 को सावित्रीबाई का परिनिर्वाण हो गया।

सावित्रीबाई फुले अपने कार्यों से सदा अमर रहेंगी। जिस वंचित शोषित समाज के मानवीय अधिकारों के लिए उन्होंने जीवनपर्यंत संघर्ष किया, वह समाज उनके योगदान को चिन्हित करने के लिए पिछले दो-तीन दशकों से पूरे भारत में उनकी जयंती को भारतीय शिक्षा दिवस और उनकी पुण्यतिथि को भारतीय महिला दिवस के रूप में मनाता आ रहा है।

बिहार में शिक्षा की दुर्दशा

रेणु झा

अतीत में जो बिहार नालंदा और विक्रमशिला जैसे शिक्षा केंद्रों के लिए मशहूर था, आज वह शिक्षा में अति पिछड़ा हो चला है। सबसे प्रमुख कारण शिक्षकों की व्यवस्था में बदहाली है।

आजादी के बाद से 70 के दशक आते-आते बिहार की शिक्षा-व्यवस्था चौपट होने लगी। पहले सरकारी विद्यालयों में लगभग ठीक-ठाक ही पढ़ाई होती थी। सरकार विद्यालयों में पढ़कर ही बच्चे मेडिकल इंजीनियरिंग में प्रवेश पाते थे। उस समय तक मेडिकल इंजीनियरिंग में प्रवेश का आधार मैट्रिक तथा इंटर स्तरीय परीक्षा का अंक होता था परंतु जब शिक्षा में भ्रष्टाचार का बोलबाला हुआ तब परीक्षा में पैरवी तथा नकल के माध्यम से अधिकांश विद्यार्थी अच्छे अंकों में पास होने लगे। अतः मेडिकल और इंजीनियरिंग में प्रवेश का आधार अच्छे अंक को समाप्त करना पड़ा। कारण स्पष्ट था बिहार में दस करोड़ की आबादी में मात्र 2500 इंजीनियरिंग सीट और 435 मेडिकल सीटें थी। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा का प्रसाद तो हो गया था परंतु परीक्षा पद्धति ढीली-ढाली थी। ग्रामीण क्षेत्रों और छोटे शहरों में शिक्षा में नकल और भ्रष्टाचार का बोलबाला बढ़ता चला गया। तत्कालीन सरकार ने भी इसमें मूक समर्थन दिया। परिणाम यह हुआ वे विद्यार्थी मैट्रिक पास तो हो जाते परंतु उच्च शिक्षा में पिछड़ते गए और इस तरह बेरोजगारों की फौज बढ़ती गई।

बिहार में सरकार चाहे किसी पार्टी की हो, शिक्षा और शिक्षकों को सबने छला है। शिक्षा जब शहरों से चलकर ग्रामीण परिवेश और दूरदराज में पहुंची तो शिक्षकों की कमी महसूस हुई। शिक्षकों को बनाने के लिए इंजीनियरिंग मेडिकल की तर्ज पर शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय (माध्यमिक स्तर) तथा बी.एड. कॉलेज (स्नातक स्तर) थे जो पढ़े-लिखे विद्यार्थियों को प्रशिक्षित कर शिक्षक बनाती थी और उन्हें योग्यता अनुसार क्रमशः

प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च माध्यमिक में शिक्षक बनने का मौका मिलता था। यहां तक तो ठीक था परंतु जब आबादी के अनुसार विद्यालयों में बढ़ोत्तरी हुई और पढ़े-लिखे बेरोजगारों की संख्या बढ़ने लगी तो ये शिक्षक-प्रशिक्षण विद्यालय कम पड़ गए। फिर ये विद्यालय और महाविद्यालय सरकार प्रचार-प्रसार के अभाव में या तो बंद हो गए या जो चालू भी रहे तो उसमें प्रवेश जटिल बना दिया गया। अतः बिहार में शिक्षक प्रशिक्षण के अभाव में शिक्षकों की कमी हो गई। इस कमी को दूर करने के लिए सरकार ने अल्पसंख्यकों को विशेष अधिकार के माध्यम से बिहार में निजी शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय खोलने को प्रेरित किया।

पूरे बिहार में बड़ी संख्या में निजी शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय खुले जहां प्रवेश का आधार पैसा था। पैसे से यहां बी.एड. की डिग्री बांटी जाने लगी। अतः बिहार के बेरोजगारों ने अंधाधुंध खर्च कर शिक्षक प्रशिक्षण की डिग्री हासिल की। अपने राज्य में नहीं तो दूसरे राज्य से डिग्री हासिल की। परंतु परिणाम वही ढाक के तीन पात। उनमें से कई बी.एड. डिग्रीधारी मन में शिक्षक की आस लिए या तो इंतजार करते रहे या दूसरे कामों में लग गए। जिनकी नौकरी लगी भी तो सालभर, छह महीने या एक महीने के लिए ही। अर्थात् उनकी उम्र गुजर चुकी थी।

1994 में शिक्षकों की कमी को देखते हुए तत्कालीन सरकार ने बिहार लोकसेवा आयोग द्वारा प्राथमिक स्तर का शिक्षक प्रतियोगिता परीक्षा का आयोजन किया और इसमें बगैर प्रशिक्षित भी उम्मीदवारी के लिए योग्य थे। अतः जब बिना प्रशिक्षण के शिक्षक

रेणु झा वकील हैं और कई विषयों पर लिखती हैं।

पता:

कचहरी रोड, बैंक ऑफ इंडिया के सामने, लहेरियासराय, दरभंगा (बिहार)
846001

बनने का मौका मिला तो प्रशिक्षित बेरोजगारों के संघ ने इसके विरुद्ध हाईकोर्ट में वाद दायर कर दिया।

1994 में हुए प्रतियोगिता परीक्षा के परिणामस्वरूप योग्य शिक्षकों की बहाली अवश्य हुई परंतु इसके बाद हाईकोर्ट में वाद दायर करने के कारण इस तरह की दोबारा प्रतियोगिता परीक्षा आयोजित करने पर रोक लग गई। पुनः शिक्षा और शिक्षकों की समस्या खटाई में पड़ गई।

इस समय तक आते-आते विद्यालय तो अनेक खुले परंतु शिक्षा से जोड़ने में शिक्षकों को कामयाबी हासिल नहीं हुई। शिक्षित बेरोजगारों की फौज को देखते हुए मजदूर वर्गों में अपने बच्चों के प्रति शिक्षा का कोई उत्साह नहीं रहा। बिहार में बेरोजगारों की फौज या तो दिल्ली-मुंबई जाकर मजदूरी करने लगी या बिहार में रहकर असामाजिक कार्यों से जुड़ गई। इन समस्याओं की समाप्ति और शिक्षकों की कमी को दूर करने के लिए 2002 में सरकार ने बहुत कम लगभग 1500 रु. मासिक मानदेय पर ग्रामीण विद्यालयों में शिक्षा मित्रों का नियोजन किया। इस नियोजन का आधार ग्रामीण क्षेत्र के शिक्षित (माध्यमिक स्तर) व्यक्ति जो उसी गांव में रहकर शिक्षक बने जहां के वह निवासी हैं। इन शिक्षा मित्रों में से ऐसे लोग भी थे जो कहने के लिए तो माध्यमिक उत्तीर्ण थे परंतु अंग्रेजी तो जाने दीजिए हिंदी भी ठीक से नहीं पढ़ पाते थे। इन्हीं शिक्षकों के सहारे बिहार की प्राथमिक शिक्षा चल रही थी।

इन वर्षों में बिहार की दयनीय शिक्षा व्यवस्था और शिक्षकों की दुर्दशा पर चहुंओर शिकायतें होने लगी। बिहार माध्यमिक बोर्ड उत्तीर्ण विद्यार्थियों को बिहार से बाहर प्रवेश मुश्किल कर दिया गया। इस तरह बिहार शिक्षा के क्षेत्र में जो पिछड़ा तो हर क्षेत्र में पिछड़ता गया, क्योंकि शिक्षा और शिक्षक ही किसी देश या राज्य के विकास की रीढ़ होते हैं। जो बिहार अतीत में नालंदा और विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालयों के लिए प्रसिद्ध था अब वह पिछड़ा राज्य घोषित हो गया।

इन्हीं दिनों संपूर्ण देश में प्राथमिक शिक्षा की दशा को सुधारने के लिए केंद्र सरकार द्वारा अनेक कार्यक्रम चलाए जाने लगे। इसमें बच्चों को विद्यालय से जोड़ने के लिए प्रति बच्चों के परिवार को अनाज देने का प्रावधान बना। इससे विद्यालयों में बच्चों की उपस्थिति तो बढ़ी मगर आबादी के हिसाब से यह संतोषजनक नहीं था। आगे चलकर विद्यालय में बच्चों को बना-बनाया भोजन दिया जाने लगा जिसके परिणाम थोड़ा संतोषजनक तो अवश्य है परंतु बिहार

में सुविधा के अभाव में इस योजना के अनेक शिकायतें मिल रही हैं।

2009 में शिक्षा का अधिकार कानून लागू होने के उपरांत भी बिहार शिक्षा के मामले फिसड्डी है। राज्य सरकार ने शिक्षक और शिक्षा की दशा और दिशा सुधारने के लिए अनेक प्रलोभन दिए हैं। सुप्रीम कोर्ट के दबाव में बिहार सरकार ने 2011 में टीईटी-एसटीईटी जैसी महापरीक्षा का आयोजन किया। इस महापरीक्षा में लगभग 28 लाख अभ्यर्थी में मात्र 1 लाख 47 अभ्यर्थी ही उत्तीर्ण हुए और एसटीईटी में 5 लाख अभ्यर्थी में मात्र 1 लाख अभ्यर्थी ही उत्तीर्ण हुए। इन उत्तीर्ण अभ्यर्थियों की बहाली खाली सीट होन के बावजूद अभी तक संपन्न नहीं हुई है।

चूंकि राज्य सरकार की मंशा अयोग्य शिक्षकों से ही शिक्षा व्यवस्था चलाने की है। अतः योग्य अभ्यर्थियों की नियोजन प्रक्रिया जटिलता में उलझ कर रह गई है। परीक्षा का परिणाम निकले दो साल से ऊपर हो गए हैं परंतु अभी तक इन अभ्यर्थियों (1.68 लाख) के नियोजन प्रक्रिया समाप्त नहीं हुई है। जाहिर है ये शिक्षित नौजवान अधिक इंतजार नहीं कर सकते। वे विकास का दूसरा विकल्प ढूंढ सकते हैं और जो अभ्यर्थी बचेंगे वही बाद में जब उनका शिक्षा से संबंध टूट चुका होगा और नौकरी करने की उम्र कम बची होगी तो शिक्षक बनेंगे। अब सोचने वाली बात है, इन परिस्थितियों में वे शिक्षक शिक्षा का कितना विकास करेंगे।

बिहार में फाइल ढोने वाले चपरासी को 18 से 25 हजार तक वेतन मिलते हैं वहीं एक शिक्षक को जिस पर देश की अगली पीढ़ी को बनाने का दायित्व है, मात्र 6 से 11 हजार तक मिलता है। यह भी 2013 के सितंबर से लागू हुआ है। उससे पहले चार से सात हजार तक ही मानदेय था। यह तो हुई प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च माध्यमिक शिक्षा का हाल। उच्च शिक्षा तो उससे भी बदतर है। वित्त रहित महाविद्यालयों में शिक्षकों को वेतन मिलना तो दूर अनुदान भी मुश्किल से मिलता है। वैसे ये कॉलेज बस परीक्षा का आयोजन करते हैं। वहीं अंगीभूत कॉलेज के शिक्षकों को 30 से 80 हजार तक वेतन मिलता है। विद्यालय में पुराने शिक्षकों को 30 से 55 हजार तक वेतन मिलता है। साथ ही अन्य सरकारी सुविधा, महंगाई भत्ता, मेडिकल तथा रिटायरमेंट भी नये शिक्षक सम्मान खोकर दोयम दर्जे की जिंदगी बिता रहे हैं। नियोजित शिक्षक ठेके पर बहाल हैं और किसी भी तरह महंगाई भत्ता या रिटायरमेंट सुविधा से वंचित हैं।

सोनी सोरी के साथ क्या हुआ

हिमांशु कुमार

हाल ही में सोनी सोरी और लिंगा कोडोपी ने जेल से बाहर निकलकर प्रेस कांफ्रेंस में जो बताया वह काफी खतरनाक है। छत्तीसगढ़ सरकार चाहती थी कि देश के जो सामाजिक कार्यकर्ता छत्तीसगढ़ में खनिजों के बारे में आवाज उठा रहे हैं उन्हें नक्सली घोषित कर दिया जाए और उन्हें जेल में डाल दिया जाय। इसलिए पुलिस अधीक्षक अंकित गर्ग ने सोनी सोरी से कहा कि वह एक कागज पर दस्तखत कर दे तो



उसे को छोड़ दिया जाएगा। इस कागज में लिखा था कि प्रशांत भूषण, अरुंधती राय, हिमांशु कुमार, नंदिनी सुंदर, स्वामी अग्निवेश, कालिन गोंसाल्वेस, मनीष कुंजाम आदि सब नक्सली हैं और सोनी उनके लिए काम करती है।

लेकिन जब सोनी ने इस तरह के झूठे कागज पर दस्तखत करने से इंकार कर दिया तो पुलिस अधीक्षक अंकित गर्ग ने सोनी सोरी को बिजली के झटके देने शुरू कर दिए। बीच-बीच में वह सोनी से पूछता था कि बोल अब दस्तखत करोगी या नहीं, सोनी के मना करने पर अंकित गर्ग उसे और बिजली के झटके देता था। सोनी ने जब झूठे कबूलनामे पर दस्तखत नहीं किए तब बौखला कर पुलिस अधीक्षक अंकित गर्ग ने सोनी सोरी को निवस्त्र कर दिया। फिर भी सोनी सोरी नहीं झुकी तो पुलिस अधीक्षक ने पुलिस वालों से कहा कि इसके भीतर पत्थर डाल दो।

आखिर छत्तीसगढ़ की सरकार इन सामाजिक कार्यकर्ताओं को नक्सलवादी क्यों साबित करना चाहती थी? जवाब सबको पता है। आदिवासी इलाकों में लाखों करोड़ों रुपयों के खनिज भरे हैं। इन्हें बड़ी कंपनियों को बेचने के बदले इन नेताओं, अधिकारियों और पुलिस अफसरों को कमीशन मिलता है।

लेकिन ये सामाजिक कार्यकर्ता सवाल उठाते हैं कि आखिर इन खनिजों का मालिक अमरीका के उद्योगपति हैं या भारत के लोग हैं? सरकार आदिवासियों के घर जलाकर, आदिवासियों की बेटियों से बलात्कार करके, आदिवासियों को उनके जंगलों से खदेड़ कर इन खनिजों को विदेशी कंपनियों को आखिर किस कानून के तहत दे रही है?

छत्तीसगढ़ की सरकार सामाजिक कार्यकर्ता के इन सवालों से डरती है। इसलिए सोनी सोरी के मार्फत छत्तीसगढ़ सरकार ने इन सभी सामाजिक कार्यकर्ताओं को जेलों में टूस कर इन्हें खामोश करने का प्लान बनाया। सरकार ने जब देखा कि सोनी ने सारी बातें सार्वजनिक कर दी हैं और हमारा पुलिस अधिकारी फंस रहा है तो आनन-फानन में उस क्रूर पुलिस अधिकारी को राष्ट्रपति

पुरस्कार दिलवाया। हाल ही में छत्तीसगढ़ विधानसभा में सरकार ने फिर से कहा कि सोनी सोरी नक्सलियों के शहरी नेटवर्क का हिस्सा है।

सोनी सोरी ने प्रेस कांफ्रेंस में पूछा कि आखिर मेरे साथ यह सब करने वाले पुलिस अधिकारी अंकित गर्ग को राष्ट्रपति ने पुरस्कार क्यों दिया? मेरे साथ जो किया क्या वह बलात्कार नहीं है? सोनी सोरी ने पूछा कि क्या मुझे नग्न करने से, मुझे बिजली के झटके देने से, मेरे शरीर में गिट्टी भरने से नक्सलवाद समाप्त हो जाएगा? सोनी सोरी ने कहा कि मैं शिक्षित थी और मेरा साथ कई सामाजिक संगठनों ने दिया इसलिए आज मैं अपनी लड़ाई को यहां तक पहुंचा सकी। लेकिन जेलों में हजारों निर्दोष आदिवासी भरे हुए हैं जो सिर्फ मार खा सकते हैं, बोल नहीं सकते हैं। न्यायालय भी उनकी भाषा नहीं जानता।

सोनी सोरी ने कहा कि सरकार ने कहा है कि सोनी सोरी ने तो खुद ही अपने शरीर में पत्थर डाल लिए। तो मेरा पूछना है कि फिर पुलिस ने अगले दिन मुझे न्यायालय में जज के सामने पेश क्यों नहीं किया? यदि मुझे जज के सामने पेश किया जाता तो मैं जरूर जज को उसी दिन सब बता सकती थी। जब सर्वोच्च न्यायालय के आदेश से मेरी जांच कोलकाता के मेडिकल कालेज में करवाई गई तो उसमें सारे सबूत मिल गए। लेकिन उसके बाद भी पुलिस अधीक्षक को वीरता पुरस्कार दिया गया।

सोनी सोरी ने कहा कि मैं छत्तीसगढ़ वापिस जरूर जाऊंगी। मैं अपने लोगों के अधिकारों के लिए लड़ूंगी।

सरकार भी मुझे जरूर लड़े। बस सरकार मुझे जिंदा रहने दे। लिंगा कोडोपी ने बताया कि मैं अपनी पत्रकारिता की पढ़ाई पूरी करने के बाद दंतेवाड़ा गया। पुलिस ने तीन गांवों को जला दिया था। मैं अपना वीडियो कैमरा लेकर उन गांवों में गया। मैंने जंगलों में डर कर छिपे हुए आदिवासियों से बात की। बलात्कार पीड़ित महिलाओं से बात की और वीडियो यू ट्यूब में डाल दिया।

बस इसके बाद पुलिस ने मेरे घर पर आकर मुझे पकड़ लिया और इस एस्सार वाले केस में फंसा दिया। थाने में एसपी ने मेरे मलद्वार में मिर्च लगा हुआ डंडा घुसेड़ दिया। इसके कारण मेरे भीतर घाव हो गए। दो साल तक मुझे रक्त म्राव होता रहा। अगर मुझे अभी जमानत न मिलती तो कुछ ही दिनों में मेरी मौत निश्चित थी।

अरुंधती राय ने कहा कि निर्भया के लिए हमने दिल्ली

में फास्ट ट्रेक कोर्ट मांगा लेकिन सोनी सोरी के लिए हमारे पास एक स्पेशल स्लो कोर्ट है। सोनी सोरी के शरीर में पत्थर भरने वाले को हम गैलेंटी एवार्ड देते हैं। सोनी के शरीर में पत्थर मिलने बाद सर्वोच्च न्यायालय को उसे जमानत देने में दो साल लग जाते हैं। हमारी अब एक ही मांग होनी चाहिए कि अंकित गर्ग को गिरफ्तार करो। ताकि अन्य आदिवासियों के मन में कोई आशा जाग सके।

प्रशांत भूषण ने कहा कि सोनी और लिंगा के मामले से ये साबित होता है कि अगर आप अन्याय के खिलाफ आवाज उठाएंगे तो आपको फर्जी मामले में फंसा दिया जाएगा। आज देश में यह एक सबसे बड़ी समस्या है। लोगों पर दसियों झूठे केस बना दिए जाते हैं। इसे रोकने के लिए हमें कोई सख्त तरीका बनाना चाहिए। अगर हम छत्तीसगढ़ में हिंसा कम करना चाहते हैं तो हमें यह सब रोकना होगा।

वनाधिकार के लिए जंगल-सत्याग्रह

शिरीष खरे

देवालय के नाम पर यहां न कोई छत है, न कोई चारदीवारी। है तो देवालय नाम का एक वटवृक्ष और उसके नीचे रखी देवमूर्ति। यह है मध्य प्रदेश के बैगा जनजाति बहुल मंडला जिले का मसना गांव। यहां जंगल की जमीन पर अपना वनाधिकार पत्र पाने के लिए बैगा जनजाति के लोग 9 अगस्त, 2012 से लगातार जंगल-सत्याग्रह कर रहे हैं। हैरानी की बात है कि ऐसा बहुत कम ही लोगों को पता है कि 'बंजर' नामक कोई सौ एकड़ जमीन पर यहां बीते 17 महीने से हर दिन सुबह-शाम बैगा महिला, पुरुष और बच्चे बारी-बारी से उपवास कर रहे हैं। इस जंगल-सत्याग्रह की खासियत यह है कि इसकी बागडोर बैगा महिलाओं ने संभाली हुई है।

काबिलेगौर है कि भारत सरकार ने बैगा को संकटग्रस्त आदिम जाति माना है। इनकी कम होती तादाद को देखते हुए मप्र सरकार ने 'बैगा विकास प्राधिकरण' बनाया है। 2006 में प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने वनवासियों के साथ हुए पारंपरिक अन्याय को स्वीकारते हुए उनके लिए वनाधिकार कानून लागू किया था। इसी कानून के तहत बैगा जनजाति को भी उनकी पारंपरिक उपयोग की जमीन का हक दिया जाना था। किंतु आदिवासी एकता मंच के कार्यकर्ता ध्रुवदेव बताते हैं कि मसना गांव के सभी 41 बैगा परिवारों को उनकी

जमीन से उजाड़ते हुए वन-विभाग ने अपना कब्जा जमाया है। उनके मुताबिक 'बैगा परिवारों ने अपनी जमीन के लिए वनाधिकार पत्र हासिल करने का दावा अगस्त, 2011 को ग्राम-सभा में पेश किया था। ग्राम-सभा ने भी उनके दावों को मान्य करते हुए आगे की कार्रवाई के लिए जिला प्रशासन को भेजा था। लेकिन प्रशासन ने उनके व्यक्तिगत वनाधिकार के दावों को नकार दिया। हालांकि वनाधिकार कानून कहता है कि विवादास्पद जमीन पर जब तक अंतिम निर्णय नहीं हो जाता है तब तक सरकार किसी भी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती। लेकिन सत्याग्राही सुशीला बाई बताती हैं कि अधिकारियों ने 17 महीने पहले उनकी जमीन पर बनी झोंपड़ियों और फसलों को जला दिया। इसके खिलाफ जब सभी ग्रामीण शिकायत दर्ज कराने मंडला के दलित-आदिवासी थाने पहुंचे तो उनकी रिपोर्ट तक दर्ज नहीं की गई। सत्याग्राहियों का कहना है कि 6 अगस्त, 2012 को उनके विरोध प्रदर्शन के खिलाफ पुलिस ने 24 पुरुषों और 8 महिलाओं को बिना सूचना के मंडला थाने में बंद रखा। बावजूद इसके जब विरोध नहीं थमा तो 3 मई, 2013 को 6 बैगाओं को तीन महीने के लिए जेल में डाल दिया गया। यह दमन और अत्याचार का सिलसिला अभी भी चल रहा है।

शराब के खिलाफ महिलाओं का जुलूस

निर्माण और संघर्ष

मध्यप्रदेश, होशंगाबाद। 'दारू पीना छोड़ दो, दारू की बोतल तोड़ दो', 'शराब के ठेके बंद करो', 'महिलाओं पर अत्याचार बंद करो', 'हम भारत की नारी हैं, फूल नहीं चिंगारी हैं'।

इन नारों से शहर को गुंजाते हुए 7 फरवरी को होशंगाबाद में सैकड़ों महिलाओं ने एक विशाल जुलूस निकाल कर शराब के ठेके और दुकानों बंद करने की मांग की। मालाखेड़ी से शुरू हुआ यह जुलूस शहर की विभिन्न सड़कों से निकला, जयस्तंभ चौक पर उन्होंने शराब की बोतलों को तोड़ा, पूरे शहर में पर्चे बांटे और अंत में कलेक्टर कार्यालय पहुंच कर मुख्यमंत्री को संबोधित ज्ञापन सौंपा।

जुलूस के प्रारंभ में पुलिस ने होशंगाबाद एसडीएम का एक पत्र सौंपा जिसमें जुलूस को अनुमति देने से इनकार करते हुए इसे अवैध बताया। तब महिलाओं ने कहा कि जुलूस निकलने के लिए उन्हें किसी अनुमति की जरूरत नहीं है और चाहे जो हो, वे जुलूस निकालेंगी। जुलूस आगे बढ़ने पर दो गाड़ियों में पुलिस आ गई और जुलूस को रोक दिया। उन्होंने धमकी दी कि वे आगे बढ़ने पर सबको गिरफ्तार कर लेंगे। वहां महिलाओं और पुलिस में काफी बहस और झूमाझटकी हुई। अंततः महिलाएं पुलिस को धकाकर आगे बढ़ गईं। उन्होंने नारा लगाया, 'दारू ठेकेदार की दलाली बंद करो'। जयस्तंभ

चौक पर छोटी सी आमसभा में तथा बाद में कलेक्टर के साथ बहस में प्रशासन की इस करतूत पर तीखी प्रतिक्रिया जाहिर की गई।

जयस्तंभ चौक पर होशंगाबाद के नागरिकों की ओर से जुलूस का स्वागत किया गया और सबको पानी व चाय पिलाई गई। आगे बढ़ने पर महात्मा गांधी की मूर्ति पर फूलमाला चढ़ाई गई। जुलूस के आगे बैनर में महात्मा गांधी का चित्र था और लिखा था— 'परिवार बचाओ, देश बचाओ, शराबखोरी बंद करो, शराब के ठेके देना बंद करो'। उनके हाथों में तख्तियां भी थी जिन पर शराब और नशा विरोधी नारे लिखे हुए थे।

इस जुलूस का आयोजन नारी जागृति मंच ने किया था जो पिछले काफी समय से शराब और अन्य नशों तथा महिलाओं पर अत्याचारों के खिलाफ अभियान चला रहा है। गौरतलब है कि होशंगाबाद के नजदीक मालाखेड़ी गांव की महिलाएं शराब दुकान के खिलाफ कई बार उग्र आंदोलन कर चुकी हैं, लेकिन उनकी पीड़ा पर सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया। इसी तरह नर्मदा किनारे डोंगरवाड़ा गांव की महिलाएं कई बार अवैध रूप से आती शराब को पकड़ चुकी हैं। लेकिन उसकी बिक्री रोकने के लिए प्रशासन ने कोई कदम नहीं उठाए हैं।

—ममता सोनी



बंदूक के साये में चुटका की जनसुनवाई

मध्यप्रदेश, मंडला। चुटका परमाणु बिजली परियोजना पर 17 फरवरी 2014 को मानेगांव, जिला-मण्डला में बंदूक के साये में जनसुनवाई की खानापूर्ति की गई। प्रशासन इस तीसरी जनसुनवाई को किसी भी हालत में फेल नहीं होने देना चाहता था इसलिए सुरक्षा और नाकेबंदी ऐसी कि मानेगांव जाने वाले हर रास्ते पर सत्राटा था। स्पेशल फोर्स के फ्लैग मार्च के कारण गावों में कर्फ्यू जैसे हालात थे। हाईस्कूल में आयोजित जनसुनवाई में प्रशासन ने अपने समर्थकों को एक दिन पहले ही लाकर बिठा दिया था। जनसुनवाई स्थल से मात्र 500 मीटर दूर परियोजना के विरोध में धरने पर बैठे 5000 ग्रामीणों को वहीं रोके रखा गया। उनके सिर्फ 5 प्रतिनिधियों को जनसुनवाई में जाने दिया गया। उल्लेखनीय है कि इसके पूर्व 24 मई और 31 जुलाई, 2013 को भी शासन द्वारा यह प्रयास किये जा चुके हैं। किंतु इस परियोजना के प्रभावितों एवं इनके समर्थक समूहों द्वारा किए गए जबरदस्त प्रतिरोध के चलते उक्त जन-सुनवाईयों को निरस्त करना पड़ा था।

केंद्र व राज्य सरकार द्वारा चुटका परमाणु ऊर्जा परियोजना के जबरन क्रियान्वयन के खिलाफ और जनता



के लोकतांत्रिक अधिकारों के हनन व संविधान के खुल्लम-खुल्ला उल्लंघन के विरोध में 17 फरवरी 2014 को भोपाल व प्रदेश के अन्य जिलों में अनेक राजनीतिक दलों और जन-संगठनों ने प्रदेशव्यापी काला दिवस मनाया। भोपाल में इसके अंतर्गत बोर्ड ऑफिस चौराहे पर विरोध प्रदर्शन का आयोजन किया गया और राज्य मानवाधिकार आयोग में याचिका दायर की गई। याचिका को स्वीकार करते हुए आयोग ने इसकी सुनवाई के लिए 'डिविज़न बेंच' के गठन का निर्देश दिया।

-राजकुमार सिन्हा

एक अनूठा अभियान

मध्यप्रदेश, इटारसी। होशंगाबाद जिले के नागरिकों ने एक अनूठी मांग करते हुए पिछले माह जनवरी में इटारसी में एक नया अभियान शुरू किया। 27 जनवरी को उन्होंने एक जुलूस निकाला, तहसील दफ्तर गए और सरकार में बैठे तमाम पदाधिकारियों को संबोधित एक निवेदन सौंपा। इसमें अनुरोध किया गया कि आप अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में भेजें और अपने परिवार का इलाज सरकारी अस्पताल में कराएं। क्योंकि इनकी हालत सुधारने का और कोई तरीका नहीं है। जबसे बड़े और प्रभावशाली लोगों के परिवारों ने सरकारी स्कूलों और अस्पतालों में जाना बंद कर दिया है तब से इनकी हालत बिगड़ती गई है। इससे साधारण जनता अच्छी शिक्षा और इलाज से वंचित हो गई है।

यह निवेदन मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री, मंत्रियों,

सांसदों, विधायकों, तमाम बड़े अफसरों, जिला कलेक्टर, एसडीएम, तहसीलदारों सबको संबोधित था। इस मौके पर एक परचा भी बांटा गया जिसमें शिक्षा, स्वास्थ्य और जीवन के तमाम क्षेत्रों में भेदभाव तथा गैरबराबरी का विरोध किया गया। इसमें पड़ोसी स्कूल पर आधारित साझा-समान स्कूल प्रणाली की मांग की गई जिसमें अमीर-गरीब सब बच्चे एक ही स्कूल में पढ़ें। शिक्षा और चिकित्सा के बाजारीकरण, व्यवसायीकरण और मुनाफाखोरी को रोकने की भी मांग की गई। इसी के साथ 'भेदभाव विरोधी अभियान' की शुरुआत हुई।

इस कार्यक्रम का आयोजन जिला शिक्षा अधिकार मंच और नारी जागृति मंच ने मिलकर किया था।

-राजेश व्यास

सावित्रीबाई फुले का स्मरण

मध्यप्रदेश, करेली। पत्र लेखक संघ द्वारा हरिविष्णु कामथ वाचनालय करेली में समाज सुधारिका और भारत के प्रथम कन्या विद्यालय की प्रथम महिला शिक्षिका सावित्रीबाई फुले का स्मरण किया गया। शशांक अग्रवाल ने श्रीमती फुले के व्यक्तित्व से अवगत कराते हुए बताया कि सावित्रीबाई फुले का जन्म 3 जनवरी 1831 को हुआ था। सावित्रीबाई फुले का विवाह 1840 में ज्योतिबा फुले से हुआ था। सावित्रीबाई फुले भारत के पहले बालिका विद्यालय की पहली प्रिंसिपल और पहले किसान स्कूल की संस्थापक थीं। सावित्री बाई ने अपने जीवन को एक मिशन की तरह

जिया जिसका उद्देश्य था विधवा विवाह करवाना, छुआछूत मिटाना, महिलाओं की मुक्ति और दलित महिलाओं को शिक्षित बनाना। उन्हें मराठी की आदि कवियित्री के रूप में भी जाना जाता था। सावित्रीबाई पूरे देश की महानायिका हैं। जब सावित्रीबाई कन्याओं को पढ़ाने के लिए जाती थीं तो रास्ते में लोग उन पर गंदगी, कीचड़, गोबर, विष्ठा तक फेंका करते थे। उन्होंने अपने पति महात्मा ज्योतिराव फुले के साथ मिलकर स्त्रियों के अधिकारों एवं शिक्षा के लिए बहुत से कार्य किए।

-कमलेश कुशवाहा

मत-विमत

भारतीय राजनीति का कायाकल्प

सन 2013 में देश की राजनीति ने नई सुबह देखी। आडंबर, प्रपंच, झूठ, भ्रष्टाचार, अकर्मण्यता और कुशासन से अलग आंदोलन से पैदा हुई पार्टी ने दिखा दिया कि अगर नीयत साफ हो तो जनता आंखों पर बिठाने में देर नहीं करती। 2011 में जनलोकपाल बिल को लेकर जब रामलीला मैदान को आंदोलन की धुरी बनाया गया तो किसी ने सोचा नहीं था कि उसकी कोख से आम आदमी को खास बनाने वाली एक ऐसी जमात का जन्म होगा, जिसके आने से भारतीय लोकतंत्र प्रणाली में नेता शब्द के मायने ही बदल जाएंगे।

आज भारत की पारंपरिक राजनीतिक पार्टी पर आम आदमी पार्टी का असर साफ देखा जा रहा है। सभी जनता के बीच यह दिखाने के लिए बेचैन हैं कि वे भी अच्छी राजनीति करना चाहते हैं। अगर विधानसभा चुनाव में कांग्रेस की इतनी बुरी गत नहीं होती और अरविंद केजरीवाल को भारी जनसमर्थन नहीं मिलता तो शायद आज तस्वीर यह नहीं होती। राजनीतिक आकाओं में आम आदमी पार्टी का डर दरअसल उस दबाव का परिणाम है, जो आप के आ जाने से तमाम सियासी बिरादरी पर पड़ा है। महाराष्ट्र, हरियाणा और उत्तरप्रदेश में सरकारों द्वारा बिजली की दरों में कमी लाने की पहल इसके पुख्ता संकेत हैं कि हर राजनीतिक दल खुद को आप की कतार में खड़ा देखना चाहता है। पंजाब के मुख्यमंत्री प्रकाशसिंह बादल का आम लोगों के

बीच जाकर चाट-पकौड़ी खाना और उप-मुख्यमंत्री सुखबीर सिंह बादल का अफसरों का यह निर्देश देना कि जनता के बीच जाते हुए उनकी सुरक्षा में कम से कम लोग लगाए जाएं। ये दोनों ही उदाहरण आप की सादगी से उत्पन्न हुई लहर को मजबूती से उजागर करते हैं। भारत जैसे देश में जहां सरकारी विभाग का अदना सा चपरासी भी फाइल लाने ले जाने के लिए पैसे मांगता है, इस तरह की सादगी काबिले तारीफ है।

वास्तव में 'आप' के उदय ने यह भी साबित किया है कि भ्रष्टाचार की सड़ांध से परेशान भारत को राजनीतिक शुचिता स्थापित कर ही कुशासन से मुक्त किया जा सकता है। अगर हमें सिस्टम में बदलाव लाना है तो बाहर से उससे लड़ने से यह नहीं होगा। हमें सिस्टम में जाकर उसे बदलना पड़ेगा।

अब समय आ गया है कि देश में जनसेवा के लिए काम कर रहे दूसरे राजनीतिक दल, गैर सरकारी संगठन (एनजीओ) और अन्य स्वयंसेवी संस्थाओं को भी आम आदमी पार्टी के साथ अपने-अपने प्रदेश में राजनीतिक संघ बनाकर जनता को कुशासन, भ्रष्टाचार, राजनीतिक दुराचार और अन्य ज्वलंत समस्याओं से आजादी दिलाना चाहिए।

-रामबाबू अग्रवाल

138/47, लक्ष्मी अपार्टमेंट, नवलखा, इंदौर(म.प्र.)

आखिरी पन्ना

जाति छोड़ कर फंस गया

तारकेश कुमार अझा

कोई यकीन करे या न करे, लेकिन यह सच है कि जाति छोड़ने का दुस्साहस कर मैं विकट दुष्चक्र में फंस चुका हूँ। इससे निकलने का कोई रास्ता मुझे फिलहाल नहीं सूझ रहा। पता नहीं क्यों मुझे यह डर लगाता रहा है कि मेरे इस दुस्साहस का बोझ मेरी आने वाली पीढ़ियों को भी ढोने को अभिशप्त होना पड़ सकता है।

दरअसल स्कूली जीवन में मैंने जाति तोड़ने का आंदोलन की काफी चर्चा सुनी थी। जयप्रकाश नारायण और चंद्रशेखर जैसे कुछ बगैर जातिसूचक उपनाम वाले नाम मुझे हैरानी में डाल देते थे। क्योंकि उस दौर में उपनाम ही नहीं बल्कि नाम के आगे जाति का उल्लेख भी धड़ल्ले से होता था। जैसे पंडित फलां शास्त्री या ठाकुर विक्रम सिंह। उस दौर में कुमार नामधारी हस्तियों का जलवा भी अपनी जगह था। जैसे दिलीप कुमार, किशोर कुमार व मनोज कुमार आदि। बस इसी से प्रभावित होकर मैंने अपने नाम से जातिसूचक उपनाम हटा लिया। लिहाजा शैक्षणिक प्रमाण पत्रों में मेरा नाम उपनाम के बगैर रहा।

लेकिन युवावस्था में कदम रखते ही मतदाता सूची में नाम दर्ज कराने के साथ ही परिचयपत्र बनाने की नौबत आई, तो उसमें नाम के साथ उपनाम लिखना जरूरी था। इससे मेरे नाम के साथ उपनाम अपने-आप जुड़ गया। अपने दायरे में लोग मुझे पूरे नाम से जानते ही थे। लिहाजा मैं एक ऐसे दुष्चक्र में उलझता गया कि नौबत अपने आप से पूछने की आ गई कि मैं आखिर हूँ कौन। चूंकि मेरे नाम के साथ उपनाम नहीं था, लिहाजा अपने बेटे का नामकरण भी मैंने बगैर उपनाम के ही करने का फैसला किया।

लेकिन समय के साथ लेन-देन में कठिनाई बढ़ने लगी। कुछ प्रपत्रों में बगैर उपनाम के और कहीं पूरे नाम के साथ नजर आते ही अपने क्षेत्र में सुपरिचित होते हुए भी मैं संदिग्ध होता चला गया। संबंधित अधिकारी मुझे संदेह की नजरों से देखते हुए दो नाम के लिए कुछ इस

अंदाज में पूछताछ करने लगते, मानो मैं कोई अपराधी हूँ और अपने नाम के साथ जातिसूचक उपनाम न जोड़ कर मैंने कोई बहुत बड़ा गुनाह कर दिया हो। कई दफ्तरों में मुझसे पूछा गया ...आपना नाम मेरे सोंगे टाइटल नेई केनो, टाइटल छोड़ा आबार नाम होए ना कि (आपके नाम के साथ टाइटल क्यों नहीं है, बगैर टाइटल के भी कहीं नाम होता है क्या)? शपथ पत्र देते-देते हुए मैं टूट गया, और इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि जाति तोड़ने की कोशिश कर मैं बुरी तरह से फंस चुका हूँ। जल्द ही गलती नहीं सुधारी, तो मेरी बेवकूफी की सजा आने वाली पीढ़ियों को भुगतना पड़ेगा। इसलिए मैंने अपने और बेटे के नाम के साथ उपनाम जोड़ने के लिए दफ्तरों के चक्कर काटना शुरू किया। यहां तक कि प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट के समक्ष कठघरे में खड़ा हुआ कि नाम के साथ उपनाम न जोड़ कर मुझसे बड़ी गलती हो गई, अब मैं इसे सुधारना चाहता हूँ। अदालती मुहर के बावजूद इसके लिए मैं पिछले दो साल से दफ्तरों के चक्कर काट रहा हूँ। अपने राज्य के शिक्षा मंत्री से लेकर मुख्यमंत्री तक गुहार लगा कर थक गया। लेकिन आज तक मेरे और बेटे के नाम के साथ पुछल्ला जातिसूचक उपनाम जोड़ने में सफल नहीं हो पाया हूँ। एक बड़े अधिकारी से दोस्ती गांठ कर इतना जान पाया हूँ, कि यह कार्य इतना आसान नहीं।

बकौल अधिकारी हर महकमा इस बात की जांच करेगा कि आखिर क्यों इतने साल तक बगैर उपनाम के रहने के बाद यह शख्स अब अपने नाम के साथ इसे जोड़ना चाहता है। कहीं इसके पीछे कोई गलत मकसद तो नहीं! बहरहाल अपनी ऐतिहासिक गलती पर सिर धुनते हुए मन बार-बार एक ही बात कहता है... जाति तोड़ कर फंस गया रे! नाम के पीछे से जातिसूचक उपनाम न रख कर मैंने अपनों पैरों पर कुल्हाड़ी नहीं मारी, बल्कि कुल्हाड़ी पर पैर दे मारा था....।